मेवाड़ की विभूतियाँ

मोतीलाल

लेखक

शीर्षक

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

मेवाड़ की विभूतियाँ

लेखक
पण्डित मोतीलाल मेनारिया, एम. ए.

प्रकाशक
दि कालेज बुक डिपो, उदयपुर

प्रथम संस्करण] १९३४ [मूल्य १)

प्रकाशक :—

मैनेजर कालेज बुक डिपो,

उदयपुर

मुद्रक :—

श्रीकृष्ण माथुर,

गोपाल प्रिंटिङ्ग प्रेस,

कानपुर

FOREWORD

A reconstruction of the history of Rajputana by the scientific method was begun as early as the first half of the nineteenth century by the great pioneer, Colonel James Tod (1782–1835 A. D.), who immortalised himself in the "Annals and Antiquities of Rajasthan" in two bulky volumes, published in 1829 and 1832 respectively. But historical research during Tod's day was still in its infancy, and hence his book grew out of date even before the fag end of the nineteenth century owing to the scholarly labours of such veterans as the late Munshi Devi Prashad and M. M. Gauri Shankar H. Ojha. Yet Tod's work, containing as it does, in an inimitably grandiloquent and graceful style the accounts of undying deeds of the rulers of Rajputana in general and of Mewar in particular, continues to inspire, much more than Ojha's, the admirer of Rajput chivalry and forms the basis of an ever increasing literature in the form of historical stories, novels and dramas.

This book "Mewar–ki–Vibhootiyan" contains biographical sketches, or more precisely, historical

stories, of important rulers and other celebrated personages of Mewar from the earliest times to the present day, and is intended primarily for students reading in Upper Primary and Middle classes in Anglo – Vernacular Schools in the State. The author, Pandit Moti Lal Menaria, M. A. has done well in rigidly avoiding an array of cold facts and dates and everything else that might be incomprehensible to the young students, a large majority of whom must be below twelve years of age. The object of introducing historical stories in these classes is not to give our boys and girls a knowledge of sober history of our country, but to acquaint them with the heroes and heroines of the land, create in them love for and pride in the history of their Motherland and finally provide them sufficient moral instruction as an aid to the development of their character. I have no doubt that this book written in easy yet attractive Hindi fulfils the object.

UDAIPUR,
18th. Sep. 1933.

Ashirbadi Lal Srivastava.

निवेदन

—*—

भारत तथा इङ्गलैण्ड के शिक्षालयों से संबन्ध रखने वाले अनुभवशील व्यक्तियों का कहना है कि बालकों को सब से पहले अपने देश का इतिहास और वह भी कहानियों के रूप में पढ़ाना चाहिये। इन कहानियों के उद्देश्य, विषय, स्वरूप, भाषा, शैली आदि पर अपनी राय देते हुए उन्हों ने लिखा भी है:—

"The object of the stories is not to teach history as history, for at this stage the boys are not able to appreciate the processes of social or political evolution or historical development; nor are they able to appreciate properly the relations of cause and effect. Their interest is mainly human and romantic. What appeals to them is **stir and movement, adventure, heroism and glory.**" In so far as matter is concerned the aim should be to select those characters from history which constitute landmarks in the development of the people and they should not be confined to one or two fields of activity. They should be chosen from kings, generals, priests, poets, and all those who have made valuable contribution to the culture and civilization of the people. These characters should belong to all known periods of history and **should be arranged in a chronological order.**"

"Their lives should be treated not in a strictly historical manner, but imaginatively. **Legends may be used freely** but discriminately, in order to **emphasize the traits of character which have to be presented.** With regard to the form of the stories it must be clearly understood that stories must be stories and not mere summaries of history. Their appeal must be to intellect through imagination and feeling. This is only possible if they are narrated in a vivid, racy and picturesque style. **The legends which testify how they have stamped themselves on the popular imagination are all of value."**

विशेषज्ञों के उपरोक्त मत ठीक हैं, और इन्हीं को सामने रख कर 'मेवाड़ की विभूतियां' की रचना की गई है। विषय-सूची पर आंख दौड़ाते ही पाठकों को पता लग जायगा कि इस में मेवाड़ के शासन कर्त्ताओं का ही वर्णन नहीं है, बल्कि वीर धात्री पन्ना, कवि शिरोमणि मीरा, योगीराज चतुरसिंह आदि के चरित्रों पर भी, जिनका शासन-प्रबन्ध और राजकीय क्षेत्र से कोई विशेष सम्बन्ध न था, पूरा २ प्रकाश डाला गया है, और यही इसकी पहली एवं अन्तिम विशेपता भी है। पुस्तक छोटी कक्षाओं के छात्रों के लिये है, इसलिये इस में उन विषयों को नहीं आने दिया है जो विवाद-ग्रस्त और संदिग्ध हैं। उदाहरण के लिये वल्लभीपुर, गुहिल और बापा के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में बड़ा मतभेद है; ठीक २ निर्णय नहीं हो सका है। अतः विवाद को छोड़ कर टॉड साहब के अनुसार ही इन के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस में कुछ हानि भी नहीं है। हां, यदि अध्यापक चाहें

तो इन कहानियों को पढ़ा लेने के उपरान्त उन बातों का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिन को आज कल के अधिकांश विद्वान ठीक मानते हों। सब कहानियां आदि से अन्त तक सच्ची और ऐतिहासिक हैं। परन्तु कहीं २ ऐसी घटनाओं और दन्त कथाओं का भी समावेश हुआ है-किया गया है जिनका ऐतिहासिक मूल्य, चाहे कुछ लोगों का इन पर विश्वास ही क्यों न हो, बहुत अधिक नहीं है। लेकिन जिन के लिये यह पुस्तक लिखी गई है, उन के लिये इन का होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य्य है, और यही समझ कर इन्हें इस में स्थान भी दिया गया है। सूर्य कुण्ड से घोड़े का निकलना, विमान में बैठे हुये हारीत का बापा को वरदान देना, लक्ष्मणसिंह के शयनागार में देवी का प्रकट होना, हमीर का सुरङ्ग में डाकिनों से भेंट करना, मीरा का गिरधर लाल की मूर्ति में विलीन हो जाना और बुभुक्षित कन्या के आर्तनाद से घबड़ा कर प्रताप का अकबर के पास सन्धि-पत्र भेजना इत्यादि घटनायें ऐसी ही हैं। अतः जान बूझ कर की गई इस ग़लती के लिये सिवाय इस के कि मैं क्षमा मांगूँ और बड़े २ इतिहास वेत्ता मुझे क्षमा करें, और हो भी क्या सकता है ?

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पुस्तक विद्यार्थियों के लिये है, छोटी है, कहानियों के रूप में है और क्रमबद्ध इतिहास भी नहीं है। ऐसी दशा में मैं यदि यह कह बैठूँ कि इसे लिख कर मेवाड़ की बड़ी भारी कमी मैं ने दूर कर दी है, तो मेरा ऐसा कहना वाचालता ही होगा। फिर कहूँ तो भी किस बूते पर ? क्योंकि इतिहास लिखने के लिये अनवरत अध्ययन, सतत श्रम और प्रतिभा विशेष की ज़रूरत होती है, और इन्हीं का मुझ में अभाव है। अभाव से अभाव की पूर्ति कैसी ! लेकिन, इतना

कहने को धृष्टता मैं फिर भी करूँगा—कहे बिना न मानूँगा, कि मेवाड़ के अतीत और उज्ज्वल गौरव की झलक इस में फिर भी है, और, इसलिये पाठकों ने यदि इसे पढ़ने का कष्ट उठाया तो उन का परिश्रम वृथा कदापि न जायगा, निराश उन्हें नहीं होना पड़ेगा। कम से कम इतना तो अवश्य होगा कि मेवाड़ के इतिहास की तरफ़ उन की रुचि बढ़ेगी और कर्नल टॉड तथा महा महोपाध्याय राय बहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा जैसे विद्वानों के बृहद् इतिहासों को पढ़ने के लिये उत्सुक और लालायित होंगे।

अस्तु, देश-काल की दशाओं को स्पष्टतया समझाने, विषय को सरलता से समझने योग्य बनाने और पढ़ने में रोचकता बढ़ाने के अभिप्राय से कहीं २ कल्पना से काम लिया गया है। परन्तु इतिहास का उलङ्घन फिर भी नहीं हुआ है। इस पुस्तक का उद्देश्य इतिहास और साहित्य दोनों ही है। अतः इस की भाषा में सरलता और साहित्य दोनों का ध्यान रक्खा गया है। पुस्तक में स्थान २ पर कविताएँ उद्धृत की गई हैं। अध्यापक यदि विद्यार्थियों से इन्हें मुखाग्र करवा लेंगे तो बड़ी अच्छी बात होगी। इस से दो लाभ होंगे। एक तो यह, कि डिंगल-काव्य से भी विद्यार्थियों का थोड़ा बहुत परिचय हो जायगा, और दूसरे घटना-प्रवाह को हृदयङ्गम करने में उन की स्मरण शक्ति को सहायता मिलेगी। पुस्तक विद्यार्थियों के निमित्त और उन्हीं के दृष्टि कोण से लिखी गई है, परन्तु बड़े बूढ़ों का मनोरञ्जन और मन बहलाव भी इस से हो सकेगा, ऐसी आशा है।

मेवाड़ के प्रख्यात इतिहासज्ञ और राज-कवि श्रीयुत ठाकुर साहब करणीदान जी, कविरत्न, अध्यक्ष सरस्वती भण्डार ने पुस्तक की कई एक न्यूनताओं की ओर मेरा ध्यान आकर्षित

कराकर उन्हें दूर करवाई, जिस से इतिहास सम्बन्धी बहुत सी नई बातें मुझे ज्ञात हुईं और साथ २ पुस्तक की उपादेयता भी बढ़ी है। ठाकुर साहिब जैसे बहुश्रुत विद्वान की प्रतिभा-खराद पर चढ़ने के पश्चात् प्रकाशित होने से मेरी समझ में पुस्तक की सब प्रकार की कमी दूर होगई है। इस अनल्प और अमूल्य अनुग्रह के लिये मैं ठाकुर साहिब का ऋणी हूं और रहूँगा। पण्डित वर गणपतिलाल जी ने पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़ कर प्रेस-कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ संशोधन में मेरी बड़ी सहायता की है। इस सुकृपा के लिये मैं पण्डित जी का बड़ा कृतज्ञ हूं। इन के अतिरिक्त श्रीयुत पन्नालाल जी अग्रवाल और पण्डित लक्ष्मीशङ्कर जी दशोरा ने भी कई तरह से मेरा हाथ बँटाया है। लेकिन इन के सम्बन्ध में यहां कुछ लिखना मैं उचित नहीं समझता। क्योंकि मुझ मित्र को सहायता देकर इन्हों ने अधिक कुछ नहीं, केवल अपने कर्त्तव्य ही का पालन किया है।

यहां मैं पूज्यवर, वयोवृद्ध और गुण ग्राहक श्री राय साहब कुञ्जवन्त राय जी, एम. ए. डाईरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इंस्ट्रकशन मेवाड़ को धन्यवाद देना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूं, जिन की सुकृपा, सौजन्य और प्रोत्साहन से इस पुस्तक का विद्यार्थियों के सामने रखने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक के छपवाने में यदि आप का विशेष आग्रह न होता तो अब भी इस के प्रकाशित होने में संदेह ही था। अवकाश और इच्छा न होने पर भी डा० आशीर्वादीलाल जी साहिब एम. ए., पी. एच. डी. ने मेरे अनुरोध से, पुस्तक की भूमिका लिख दी है। भूमिका छोटी होने पर भी सारगर्भित है और मेवाड़ सम्बन्धी ऐतिहासिक

साहित्य की बहुत-सी बातें इस में आगई हैं। डाक्टर साहब का यह आभार मैं हृदय से स्वीकार करता हूं।

विद्यार्थियों के लिये इस पुस्तक को उपयोगी और आवश्यक समझ कर परम दयालु श्रीमान् महाराजा धिराज महाराणा जी श्री सर भूपालसिंह जी बहादुर जी. सी. एस. आई; के. सी. आई. ई. ने इसे छपवाने और मेवाड़ के स्कूलों के पाठ्यक्रम में नियत करने की आज्ञा बख़्शी है। परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह ऐसे गुण-ग्राही और विद्या-प्रेमी नरेश को दीर्घायु करे, यशस्वी बनावे और सदैव आनन्द में रक्खे।

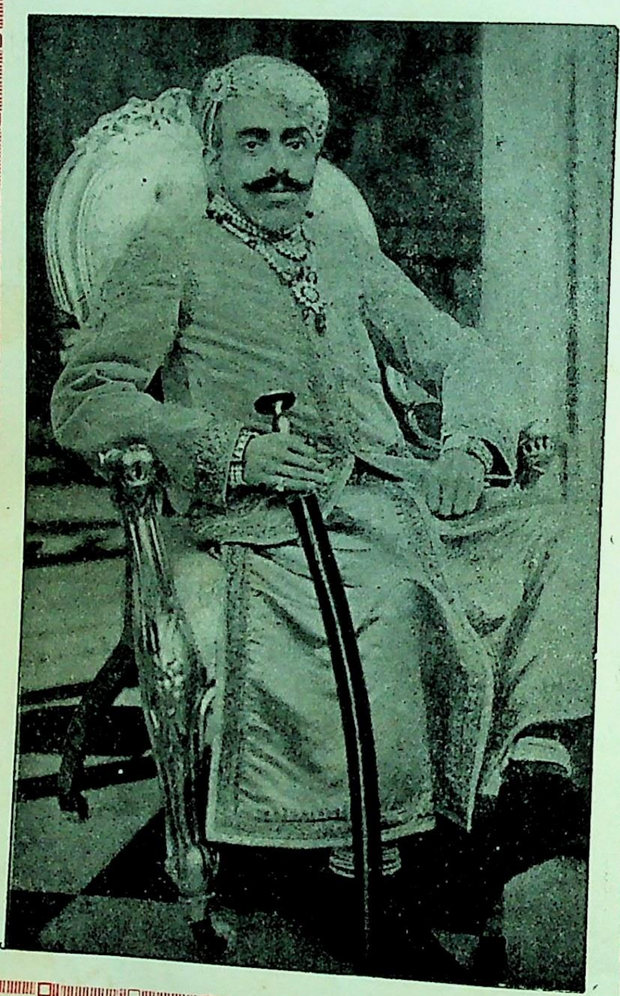
विनीत—

उदयपुर,
२० मार्च, १९३४.

मोतीलाल मेनारिया।

विषय-सूची

—:○:—



वीर भूमि मेवाड़ के वर्तमान अधिपति
श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा जी श्री १०८ श्री सर भूपालसिंह जी बहादुर,
जी. सी. एस. आई., के. सी. आई. ई.

समर्पण

सीसोदिया-कुल-भूषण, सहृदय, स्वदेश भक्त, प्रजा हितैषी, विद्वान्,

इस वीर प्रसविनी-वीर भूमि मेवाड़

के

वर्तमान अधिपति श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा जी श्री १०८

श्री सर भूपालसिंह जी बहादुर

जी. सी. एस. आई., के. सी. आई. ई.

के

कर कमलों में सादर

समर्पित

समर्पण

सीसोदिया-कुल-भूषण, सहृदय, स्वदेश भक्त, प्रजा हितैषी, विद्वान्,

इस वीर प्रसविनी-वीर भूमि मेवाड़

के

वर्तमान अधिपति श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा जी श्री १०८

श्री सर भूपालसिंह जी बहादुर

जी. सी. एस. आई., के. सी. आई. ई.

के

कर कमलों में सादर

समर्पित

मेवाड़ की विभूतियाँ

प्रथम अध्याय

शीलादित्य

लगभग चौदह सौ वर्ष पहिले की बात है, भारतवर्ष के सौराष्ट्र* प्रान्त की राजधानी वल्लभीपुर में महाराज शीलादित्य राज करते थे। वे बड़े ही वीर, पराक्रमी और बुद्धिमान राजा थे। उस समय भारतवर्ष के कोने कोने में इनके त्याग एवं धर्म की दुहाई फिरती थी। इनका नाम इतना प्रसिद्ध होगया था कि आस पास के छोटे बड़े सब राजा महाराजा इनके नाम से कांपते थे। शीलादित्य जितने वीर और साहसी थे, उतने ही प्रजा हितैषी, धर्म परायण और स्वदेशाभिमानी भी थे। युद्ध में हार तो उनकी कभी हुई ही नहीं थी। रणक्षेत्र में उतरते ही शत्रु भाग खड़े होते थे। कई अभिमानी राजाओं ने अपने वैभव और सैनिक बल के मद में आकर इन से लड़ाई ठानी, परन्तु अन्त में उन्हें भी शीलादित्य की शक्ति के सम्मुख मस्तक झुकाकर अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। शीलादित्य का अपना उत्कृष्ट चरित्र ही एक मात्र धन था। उसी के सहारे उन्हों ने वल्लभीपुर को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया।

---

* गुजरात-काठियावाड़ का प्राचीन नाम।

परन्तु, केवल वीरता के कारण ही शीलादित्य की इतनी सफलता हुई हो, ऐसी बात नहीं थी। सच तो यह है कि वे सूर्य के पुत्र थे। उनके पिता ने उनको एक मंत्र दिया था जिसके बल से वे शत्रुओं के शौर्य, पराक्रम और अस्त्र-शस्त्रों को निष्फल और निष्काम कर देते थे। कहते हैं, वल्लभीपुर में एक कुण्ड था जिसका जल अत्यन्त ही शीतल, निर्मल और पवित्र था। ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्ड उष्णता में भी वह लबालब भरा रहता था। उस में सुन्दर कमल खिले हुये थे जिन पर भौंरे मधुर गुंजार किया करते थे। जब कोई शत्रु महाराज शीलादित्य पर आक्रमण करता, उस समय इनके सामन्तगण तो हाथी, घोड़े, रथ और सेना सजाने में रहते, और राजा कुण्ड के पास जाकर भगवान सूर्य के दिये हुये मंत्र का जप करते थे। जप करते ही सूर्य के रथ को खींचने वाला एक श्वेत घोड़ा बाहर निकल आता था। राजा इस घोड़े पर बैठ कर समर-भूमि की ओर प्रयाण करते और सदैव विजयी होकर लौटते थे। प्रजा ने भी राजा के कुण्ड और अश्व की कथा सुन रक्खी थी; परन्तु किस मन्त्र के आधार पर वे घोड़े को बाहर बुलाने में समर्थ होते थे, इस भेद को राजा के अतिरिक्त केवल एक प्राणी और जानता था। वह था राजा का प्रधान मंत्री। यह मंत्री बड़ा ही धूर्त, नमकहराम और कुटिल था। वह मन ही मन राजा से द्वेष और वैर भाव रखता तथा उनकी बुराई में व्यस्त रहता था।

एक बार किसी यवन शत्रु ने वल्लभीपुर पर चढ़ाई की। धूर्त मन्त्री तो इस अवसर की प्रतीक्षा में पहिले ही से था। एक रात्रि को उसने छिपकर शत्रु से शिविर में भेंट की और बोला—महानुभाव, हमारे महाराज शीलादित्य अजेय हैं; आजतक कोई शत्रु-

उन्हें युद्ध में नहीं हरा सका है। उनकी विजय के रहस्य को मैं जानता हूं। यदि आप मुझे प्रचुर धन सम्पत्ति और भूमि पुरस्कार में देने की प्रतिज्ञा करें, तो मैं एक ऐसी युक्ति बतला दूंगा जिस से शीलादित्य परास्त हो जायँगे और वल्लभीपुर का राज्य सुगमता से आप के अधिकार में आजायगा। शत्रु ने जब यह सुना तब उसको बड़ा हर्ष हुआ और मन्त्री को चौगुना पुरस्कार देने का वादा कर सब भेद प्रकट करने को कहा। तदुपरान्त मंत्री ने सूर्य-कुण्ड और घोड़े की कथा उस से कही। उसने यह भी बतलाया कि यदि वह स्वच्छ जल किसी प्रकार अपवित्र कर दिया जाय तो भगवान सूर्य कुपित हो जायँगे और शीलादित्य की सहायता के लिये घोड़े को न भेजेंगे। शीलादित्य की पराजय का यही एक रास्ता है। यदि चाहो तो पूरी सफलता के साथ इस का उपयोग कर सकते हो। इसके बाद शत्रु-राजा ने एक पुरस्कार पत्र मंत्री को लिख दिया, जिस में मन्त्री को खूब धन और भूमि देने का उल्लेख था। मन्त्री अपने कपट-कौशल पर मन ही मन प्रसन्न होता हुआ घर आया। उस समय वह ऐसा ख़ुश था, मानो लड़ाई में मैदान मारा हो। उसी रात्रि को यवनों ने भी मन्त्री की बताई हुई विधि से कुण्ड में गो रक्त की दो चार बूंदें डाल कर उसे अपवित्र कर दिया, जिस से वह घोड़ा इस मृत्यु-लोक को छोड़ स्वर्ग को वापस चला गया।

दूसरे दिन पौ फटते ही शीलादित्य कुण्ड पर गये और कातर स्वर से बार बार मन्त्र का जप करने लगे। परन्तु सब व्यर्थ हुआ। उस दिन वह घोड़ा बाहर न निकला। निराशा—घोर निराशा की विषम वेदना से राजा पीड़ित होने लगे। चारों ओर अँधकार ही अँधकार दिखाई दिया। वे समझ गये कि किसी विश्वास-

घाती ने उन्हें धोखा दिया है। वहां अधिक विलम्ब करना उचित न समझा और अपने साहस पर भरोसा रख कर वे सीधे युद्ध क्षेत्र में पहुंचे। घोर युद्ध हुआ। जो कोई भी राजा के सामने आया वह बच न सका; परन्तु यवनों की संख्या बहुत अधिक थी। इस से एक एक करके राजा के सब सिपाही मारे गये और वे भी यवनों का संहार करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। उनके साथ वल्लभीपुर का वंश-वृक्ष भी जड़ से उखड़ गया। महाराज शीलादित्य की रानियां पति के साथ सती हुईं। सिर्फ़ एक रानी पुष्पावती रह गई, जो गर्भवती होने से अपने पुत्र की शुभ कामना के हेतु अपने पिता के राज्य में भवानी के दर्शन के लिये गई हुई थी।

पुष्पावती ने मार्ग में जब ये समाचार सुने, उसे अत्यन्त दुःख हुआ। मूर्छित होकर वह वहीं गिर पड़ी, और सचेत होने पर प्राण देने के लिये कटिबद्ध होगई। उस समय रानी के साथ बड़नगर की कमलावती नामक एक ब्राह्मणी थी। उसके बहुत कुछ समझाने पर रानी ने पति की वंश स्थिति के लिये प्रसव-काल तक जीवित रहना स्वीकार किया। दोनों ने भागकर मलय प्रान्त के किसी पहाड़ी स्थान में आश्रय लिया। कुछ काल व्यतीत होने पर रानी के एक पुत्र हुआ। बालक को कमलावती के सुपुर्द कर रानी वहीं सती होगई।

अब कमलावती नव जात शिशु का पुत्रवत् पालन-पोषण करने लगी। गुहा (कन्दरा) में उसका जन्म हुआ था; इसलिये कुमार का नाम गुह, गोह तथा गुहिल रक्खा गया। इस प्रकार मातृहीन बालक जननी की गोद से वञ्चित रह कर, अपनी धात्री की गोद

में खेलने, कूदने और थिरकने लगा। धीरे २ गोह १० वर्ष का हुआ। ज्यों २ वह बड़ा होता, उसके स्वभाव में भी अन्तर पड़ता जाता था। वह बड़ा ही ढीठ, उपद्रवी और उच्छृङ्खल होगया। वह हमेशा पड़ोस के लड़कों को मारता, पीटता और आखेट के लिये वन २ घूमता फिरता था। लड़के की गिरती हुई अवस्था देख कर कमलावती को दुःख और शोक होता, परन्तु वह मन मारकर रह जाती थी। लड़का भी घर के बन्धनों से घबरा उठा और एक दिन मौक़ा देख कर वनवासी भीलों के साथ ईडर के जङ्गल में भाग गया। इस समय गुह की अवस्था ११ वर्ष की थी। अब गुह निःशङ्क होकर वन में घूमने लगा। हिरन, रीछ, सिंह, सर्प आदि का शिकार करना, मांस सेंक कर खाना, भीलों के साथ दिन भर इधर उधर चक्कर लगाना और रात पड़ने पर पर्वत की कन्दरा में सो रहना ही गुह के जीवन का एकमात्र उद्देश्य होगया था। वह ख़ुद गुफ़ा में पैदा हुआ था, प्रकृति के स्वच्छ वायु-मण्डल में पला था, और स्वभाव ही से निडर था; इसलिये बड़ी ही सुगमता से भीलों के साथ इसका हेलमेल होगया। गुह की मनमोहक मुखश्री ने भीलों पर जादू का काम किया, और थोड़े ही दिनों में उसके पराक्रम से जङ्गल गूंज उठा। एक दिन खेल ही खेल में बालकों ने इसे अपना नेता चुन लिया। जङ्गल में कुंकुम और चन्दन कहां था? एक भील बालक ने अपनी उँगली काट कर रुधिर से गुह के मस्तक पर राज तिलक खींच दिया। यह हँसी ही थी; परन्तु इस बात को जब सन्तान-विहीन भील राज मण्डलीक ने सुनी, वह बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी वृद्धावस्था को निकट आती देख सर्व सम्मति से उसने गुह को गद्दी पर बैठा दिया। इसके बाद गुह ने विवाह किया, और आनन्द से अपना शेष जीवन व्यतीत करने लगा।

गुह का नाम उसके वंशधरों का गोत्र बन गया। उसी दिन से उसके वंशज गहलोत कहलाने लगे।

महाराजा गुहिल के पीछे आठ पीढ़ी तक ईडर राज्य पर उनके वंशजों का राज्य रहा। अन्तिम राजा नागादित्य हुये। भील लोग स्वभाव ही से स्वातन्त्र्य-प्रेमी होते हैं। अपने ऊपर विजातियों को राज्य करते हुये वे अधिक न देख सके। सब ने मिल कर षड्यन्त्र रचा और नागादित्य को शिकार के समय जङ्गल में मार डाला। इस प्रकार ईडर का राज्य एक बार फिर से असभ्य, अशिक्षित और अरण्य वासी भीलों के हाथ में चला गया।

दूसरा अध्याय

बापा

नागादित्य को हत्या करने पर भी भीलों की क्रोध-ज्वाला शान्त न हुई। गुहिल वंश के नाम ही से उन्हें घृणा हो उठी थी। इसलिये चहुं-मुखी-क्रान्ति, प्रचण्ड विप्लव और भीषण उथल-पुथल करने की भावना से प्रेरित होकर उन्हों ने नागादित्य के दुःखी परिवार को घेर लिया। इस से देश में हाहाकार मच गया। जिधर देखो, उधर रक्त पिपासु भील ही भील दिखाई देने लगे। कुटुम्बियों को अपने प्राणों की इतनी परवाह न थी, जितनी नागादित्य के एक तीन वर्ष के बालक बापा की। प्राण रक्षा का कहीं भी मार्ग न देख, सारा परिवार सिहर उठा। परन्तु, ईश्वर निर्दोष बालक का रक्षक था। उसी ने उसकी रक्षा की। जिस बड़नगरा जाति की ब्राह्मणी कमलावती ने इनके मूल पुरुष गुह को बड़ा किया था, उसी के वंश वालों ने एक बार फिर इस दुःखी और निःसहाय परिवार की सहायता की। वे लोग उस समय गुहिलोत राजकुमार के कुल पुरोहित थे। बालक को लेकर माता इनके आश्रय में चली गई। वहां से वे लोग भाडेर दुर्ग को गये। एक यदुवंशी भील ने इन्हें आश्रय प्रदान किया; किन्तु यहां भी बालक को सुरक्षित न देख कर वे लोग पराशर वन को चले गये। वह वन घने वृक्षों से परिवेष्टित था। पास ही में त्रिकूट पर्वत की तलेटी में स्थित नागदा नामक ग्राम था। यहां एक सोलङ्की राजपूत राजा राज्य करता था। वहीं पर कुछ शिवो-

पासक ब्राह्मण निवास करते थे। इन में से एक ब्राह्मण ने बापा के लालन पालन का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार किया। उस दिन से बापा और उनकी मां वहीं रहने लगे।

इस प्रकार राजकुमार बापा अपना जीवन नागदा के पर्वतों, वहां की घाटियों, कन्दराओं तथा भयानक झाड़ियों में व्यतीत करने लगे। एक साधारण किसान के बालक में और इन में कोई अन्तर न था। छोटी अवस्था में सिवाय खेलने-कूदने के इनके पास और कोई काम न था। हां, जब बड़े हुये तब लकड़ी लेकर जङ्गल में अपने आश्रय दाता की गायें चराने के लिये अवश्य जाना पड़ता था। परन्तु, वहां भी इन्हें किसी बात का कष्ट न था। सारा दिन खेल ही खेल में निकल जाता था। वे इधर उधर खेलते-कूदते, घूमते-फिरते, नदी-नालों में स्नान करते, हमजोली चरवाहों के साथ वृक्षों के नीचे बैठ कर बांसुरी बजाते और दिवस का अवसान होने पर घर चले आते थे। समय सुनहरी पहियों पर होकर गुज़रता था। एक दिन की बात है कि नागदा के सोलङ्की राजा की कन्या अपनी सहेलियों के साथ झूला झूलने के लिये वन में गई। श्रावण का महीना था। चारों तरफ़ हरियाली थी। बालिकाओं के निर्मल हृदय प्रकृति की निराली छटा को देख २ कर उछल रहे थे। झूला डालने की तैयारियां होने लगीं, परन्तु उन्हें यह मालूम हो न था कि जल्दी २ में वे रस्सी लाना भूल गई हैं। अब जब ज़रूरत पड़ी तब सब खड़ी २ चिन्ता करने लगीं। सब के मुख मुरझा गये। दिन भर के खेल कूद पर पानी फिर गया। परन्तु झूला झूलना आवश्यक था। सब मिलकर अपनी २ भूल पर पश्चात्ताप कर रही थीं, कि इतने में बापा वहां आगये। राजकुमारी की सहेलियों ने उन्हें रस्सी ला-

देने को कहा। बापा स्वभाव ही से हँसमुख, हास्य प्रिय, और चञ्चल तो थे ही, बोले—रस्सी तो मैं लादूँगा, परन्तु तुम्हें अपनी राजकुमारी का विवाह मेरे साथ करना होगा। कौतुक के ऊपर कौतुक हुआ। बालक-बालिकाओं को तो खेल चाहिये। आज यदि रस्सी न मिली तो क्या हुआ? विवाह का खेल ही देखेंगे। सब के मुख-मंडल खिल उठे। तमाशा देखने की लालसा से सहेलियों ने बापा की बात स्वीकार करली। फिर बापा और राजकुमारी की गांठ जोड़ी गई। साथ २ सब लड़कियों ने आपस में हाथ पकड़ कर, शृंखला बद्ध होकर एक बड़े वृक्ष की प्रदक्षिणा की। तदुपरांत बापा ने रस्सी का प्रबन्ध कर दिया। बापा के साथी चरवाहों और राजकुमारियों की दृष्टि में इस विवाह का कोई मूल्य न था। वे इसे खेल ही खेल समझते थे। किन्तु, बापा के मन में यह बात न थी। उन्हों ने सोचा कि तनिक सी भी बात खुल जाने से हमारे ऊपर भारी सङ्कट आ जायगा। इसलिये रात्रि को उन्हों ने सब चरवाहों को एकत्रित किया और उन से शपथ लेली कि वे भूल कर भी इस रहस्य को किसी पर प्रकट न करेंगे।

बापा जिन गायों को चराते थे, उन में एक गाय दुधार थी। दिन भर वह हरी घास चरती और बड़ी संभाल से रक्खी जाती थी। परन्तु, संध्या को जब घर पर दुहने लगते, तब एक बूंद भी दूध नहीं निकलता था। कई दिन इस तरह से निकल गये। ब्राह्मण के घर वालों को संदेह हुआ कि हो न हो बापा ही अकेले में दूध निकाल कर पी जाता है, इसलिये गुप्त रीति से बापा पर नज़र रखने लगे। इसकी ख़बर धीरे २ बापा को भी मिली। वे उन लोगों के संदेह से बड़े दुखी हुये, किन्तु क्या करते? वे ख़ुद

हैरान थे। अपने कलंक और लोगों के संदेह को दूर करने के लिये बापा ने चोर का पता लगाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। दूसरे दिन गाय चराई पर गई। बापा भी उसके पीछे २ चलने लगे। जिधर वह जाती, उधर ही वे भी जाते। ज्येष्ठ का महीना था और दुपहरी का समय। आकाश से आग बरस रही थी। गायें अपना अपना चरना छोड़ वृक्षों के नीचे बैठी आंखें बन्द कर जुगाली कर रही थीं। भैंसें गर्मी के मारे तालाब के उथले और गँदले पानी में डुबकियां ले लेकर जल्दी जल्दी सांस ले रही थीं। पक्षी चुपचाप पंख फैलाये घोंसलों में दबक कर बैठे हुये थे, और ग्वालों के बालक निश्चिन्त होकर वृक्षों की छाया में पड़े सो रहे थे। परन्तु, इस समय भी, ऐसे भीषण ताप में भी बापा और उनकी गाय चराई के स्थान से बहुत दूर सुनसान जंगल में चले जा रहे थे। यकायक एक सघन कुंज के पास आकर गाय रुक गई। बापा भी चुप चाप उसके पीछे खड़े रहे। एक क्षण रुक कर गाय पूंछ हिलाती हुई उस लता-मण्डप में घुस गई। बापा का हृदय धड़कने लगा। वे खड़े होकर सोचने लगे कि भीतर जायँ या न जायँ। अन्त में साहस बटोर कर भीतर घुस ही गये। वहां जो कुछ उन्हों ने देखा, उस से वे स्तब्ध होगये। क्या देखते हैं कि लता-मंडप में एक शिवलिंग स्थापित है और उसी के ऊपर गाय के थन में से निकल कर दुग्ध की धार अपने आप गिर रही है।

घर पर दूध न निकलने का कारण आज बापा समझ गये। दो क़दम और आगे बढ़े तो उन्हों ने सन के समान श्वेत केश वाले एक वृद्ध तपस्वी को ध्यान में मग्न बैठे देखा। तपस्वी के लम्बी २ जटायें थीं। उनकी सफ़ेद दाढ़ी छाती पर लटक रही थी। देह पर भस्म लगी हुई थी और उनका उन्नत ललाट योग-

बल से सूर्य के समान दमक रहा था। उनकी आंखें बन्द थीं और पद्मासन लगाये हुये वे ध्यान में लीन पाषाण-प्रतिमा की तरह अपनी धूनी के पास पूजा सामग्री को लिये हुये बैठे थे। बापा के वहां पहुँचते ही योगीराज का ध्यान टूट गया। मधुर हँसी हँसकर उन्हों ने कुमार को बैठने के लिये हाथ का इशारा किया। बापा ने चरणों में गिरकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया, और फिर हाथ जोड़ सामने बैठ गये। योगी ने आशीर्वाद देकर नाम पूछा। बापा ने अपना हाल जितना भी उन्हें मालूम था, निष्कपट भाव से कह सुनाया। उन्हों ने यह भी कहा कि लोग मुझ पर दूध की चोरी का अपराध लगाते हैं। इसलिये मैं आज इधर आया हूं। इस पर योगी ने कहा कि गाय भगवान एकलिंग और उनके सेवक मुझ हारीत को दूध देने के लिये सदैव इधर आती है, और कई वर्षों से आरही है। उस दिन बापा का अधिक समय वहीं बीता। फिर संध्या होते देख योगीराज हारीत ने उन्हें वहाँ से जाने की आज्ञा दी। बड़ी श्रद्धा से प्रणाम कर बापा घर चले आये।

उसी दिन से योगी के पास जाने का बापा के लिये नियम सा होगया। गायों को जंगल में छोड़ वे आश्रम में चले जाते और दिन भर गुरू की सेवा करते थे। वे उनके चरण धोकर चरणामृत लेते। उन्हें दूध पिलाते। उनके मृग छौनों को घास खिलाते और पुष्प तथा समिध जुटाने में उनकी सहायता करते थे। बापा की अटूट भक्ति और निष्कपट प्रेम से हारीत बड़े प्रसन्न हुए, और उन्हें भाँति २ के उपदेश देने लगे। कुछ दिन इसी प्रकार व्यतीत हुए। मुनिवर धीरे २ ऐसे संतुष्ट हुए कि उन्हों ने शैव मंत्र से दीक्षित कर अपने करकमलों से बापा के गले में

यज्ञोपवीत पहना दिया और उन्हें 'एकलिंग के दीवाण' की बड़ी भारी उपाधि दी।

बापा की भक्ति से भगवती भवानी भी बड़ी खुश हुईं। एक रात्रि को स्वयं आकर उन्हों ने बापा को दर्शन दिये और विश्वकर्मा द्वारा बनाये हुए अस्त्र-शस्त्र से अलंकृत कर उनके गौरव को बढ़ाया। दूसरे ही दिन प्रातः काल बापा ने भवानी द्वारा दिये गये आयुधों की बात योगीराज हारीत से कही। वे सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और मन ही मन में भगवान एकलिंग को नमस्कार कर जलद-गम्भीर ध्वनि से कहने लगे-मेरे जीवन का उद्देश्य आज पूरा होगया है, इसलिये कल मैं इस संसार को छोड़ शिवलोक को चला जाऊँगा। तुम अभी घर जाओ। कल प्रातः काल होते ही फिर यहाँ चले आना, जिस से मैं तुम्हें अन्तिम उपदेश और आशीर्वाद दे सकूं।

बापा घर गये, परन्तु दिन भर की थकान के कारण उन्हें गहरी नींद आगई और नियत समय पर गुरू के पास न पहुंच सके। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, हारीत एक विमान में सवार होकर आकाश में बहुत दूर जा चुके थे। बापा को बेहताश दौड़ते हुए आते देख उन्हों ने अपने विमान को रोक लिया, और आशीर्वाद लेने के लिये उन्हें अपने पास आने को हाथ से इशारा किया। देखते ही देखते बापा का शरीर बीस हाथ बढ़ गया, परन्तु वे फिर भी गुरू के पास न पहुंच सके। मुनिवर ने तब मुंह खोलने को कहा। बापा के मुंह खोलते ही उन्होंने उस में निष्ठीवन डाला। बापा ने घृणा और अवज्ञा से मुंह बन्द कर लिया। इस से वह निष्ठीवन उनके मुंह में न गिर कर, पाँव पर

गिरा। महर्षि को इस से बड़ा दुःख हुआ। उन्हों ने ज़ोर से बापा को संबोधन कर कहा–कि तूने बड़ी भूल की जो मेरे प्रसाद को ग्रहण न किया। यदि तू ग्रहण कर लेता तो अवश्य अमर हो जाता। मृत्यु तेरे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती। ख़ैर, फिर भी बहुत है। यह प्रसाद तेरे पाँव पर गिरा है; इसलिये तेरे पाँवों के नीचे से मेवाड़ का राज्य न जायगा, और तेरी देह अस्त्र-शस्त्रों से अभेद्य हो जायगी। बापा के लिये यह भी कम सौभाग्य की बात न थी। उन्हों ने सन्तोष प्रकट करते हुए गुरू को प्रणाम करने के लिये मस्तक झुकाया। इतने में हारीत और उनका विमान आकाश की नीलमा में विलीन हो गया।

हारीत के आश्रय से बापा को बहुत कुछ शान्ति मिलती थी। आज वे भी छोड़ चले। इस से उन्हें ऐसा दुःख हुआ, मानों उनके सर्वस्व को किसी ने लूट लिया हो। वे सिर लटका कर घर आये। परन्तु, अपने साथ बीती हुई बात को वे किस से कहते? ऐसी अनहोनी बात पर कौन विश्वास करता? किसी दूसरे को न कहकर बापा ने दुधार गाय, हारीत, देवी भवानी और योगी के अन्तिम प्रसाद की कथा अपनी माता से कही। माँ को यह सब सुन कर बड़ा विस्मय हुआ। उसने भी कुमार के वंश और जन्म का वृत्तान्त, जो इतने दिनों तक छिपा रक्खा था, ठीक २ रूप में उनके सामने रख दिया। बापा मंत्र मुग्ध होकर सब सुनते रहे। माता का वर्णन उनके वर्णन से कम रोचक तथा कुतूहल वर्द्धक न था। वे अभी तक अपने आप को एक साधारण चरवाहे का बालक समझे हुए थे। आज जब उन्हें मालूम हुआ कि वे चरवाहे नहीं, बल्कि एक राजकुमार हैं, तब उनकी राज्यलिप्सा जागृत हो उठी। उसी

दिन से उन्हों ने चरवाहे का काम छोड़ दिया और कुछ ही दिन बाद अपने भाग्य की परीक्षा करने के निमित्त नागदा छोड़ कर चले गये ।

इधर जब राजकुमारी विवाह के योग्य हुई तब राजा ने एक ज्योतिषी को बुलाकर मुहूर्त निकालने को कहा । ज्योतिषी ने जन्मपत्री देख कर कहा कि कन्या का विवाह तो हो चुका है। ज्योतिषी के इस कथन से राज भवन में तहलका मचगया। यह विवाह किसने किया, कैसे हुआ, कब हुआ—यह जानने के लिये गुप्तचर छूटे और थोड़े ही दिनों में राजकुमारी तथा उसकी सहेलियों के विवाह की बात राजा को विदित होगई। बापा को पकड़ने के लिये सिपाही दौड़े; परंतु वे पहिले ही नागदा छोड़ चुके थे। यह अच्छा भी हुआ। आज यदि बापा नागदा में होते तो उन्हें विवाह का मज़ा मिल जाता।

नागदा से निकल कर बापा अपने मामा मानसिंह के पास चित्तौड़ गये। वहाँ इनपर सम्मान की वर्षा होने लगी। मानसिंह ने इन्हें जागीर दी, पदवी दी, और कई सरदारों के ऊपर बैठक देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। बापा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर वहाँ के सरदार जल भुन कर ख़ाक होने लगे और खुल्लम खुल्ला उनसे बदला लेने को तैयार होगये। इसी समय एक विदेशी शत्रु ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। मानसिंह ने अपने सरदारों को लड़ने की आज्ञा दी। परंतु सबने अपनी जागीरों के पट्टे बड़े घमंड से राजा के सामने फेंक दिये, और बोले—"महाराज! आप अपने बापा को लड़ाई में भेजिये। वह बड़ा ही वीर और पराक्रमी है; अकेला ही लड़ लेगा। एक

चरवाहे, दूसरों के अन्न पर पले हुए भिक्षुक की अधीनता में रहकर लड़ने के लिये हम तैयार नहीं हैं। इसमें हम अपना अपमान समझते हैं। फिर ज़रूरत ही क्या है? आप और बापा दोनों ही शत्रुओं का सामना कर लीजिये। दुःख है कि इस संकट के समय हम लोग आपका साथ न दे सके"।

बापा दरबारियों से दबने वाले थोड़े ही थे। वे वीर और उत्साही पुरुष थे। अपना पराक्रम प्रकट करने के लिये तो वे घर से निकले ही थे। सरदारों के षड़यंत्रों से उनका उत्साह और साहस सौगुना हो गया, और वे अकेले ही लड़ने को उद्यत होगये। इने गिने साथियों को साथ ले बापा रणक्षेत्र में उतरे। विकराल युद्ध हुआ। बापा की तलवार की चोटें शत्रु न सह सके और इधर उधर भाग गये। सरदार तटस्थ होकर युद्ध देख रहे थे। उन्हें स्वप्न में भी आशा न थी कि एक सोलह वर्ष का बालक इस तरह से शत्रुओं को नाकों चने चबावेगा। बापा की समर पटुता को देख सरदार दंग रह गये और अपने पुराने बैर को भूल कर सब बापा की भूरि २ प्रशंसा करने लगे। फिर सबने मिल कर आपस में सलाह की और बापा को अपना राजा बनाना तय किया। हा! राज्य-लोभ भी कैसी भयंकर वस्तु होती है। इसके चक्कर में पड़कर भाई भाई का, पुत्र पिता का, और सेवक स्वामी का, नाता भूल जाता है। महान् से महान् वीर में भी यह कमज़ोरी देखी गई है। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि बापा भी इस दोष से वंचित न रह सके। सरदारों के कहे में आकर उन्होंने अपने मामा मानसिंह को गद्दी से उतार दिया और स्वयं चित्तौड़ के स्वामी बन बैठे।

बापा के सिंहासन पर बैठते ही, सरदारों ने बड़े ही सम्मान-

पूर्ण शब्दों में उनका अभिनन्दन किया और उन्हें 'हिन्दुआ सूर्य' की उपाधि दी। आज दिन तक मेवाड़ के महाराणा 'हिन्दू पति' और 'हिन्दुआ सूरज' कहलाते हैं।

गद्दी पर बैठने के समय बापा की आयु सोलह वर्ष की थी। इसके बाद उन्हों ने कई विवाह किये, जिनसे उनके १३० पुत्र हुए। वे सब अग्नि उपासक सूर्य वंशी नाम से प्रसिद्ध हैं। बापा बड़े ही वीर, प्रतापी और पराक्रमी राजा हुए। इन्होंने काश्मीर, ईरान, तूरान, आदि के बादशाहों को जीत कर उनके देशों को अपने राज्य में मिला कर उसे एक विशाल साम्राज्य का रूप दिया। वृद्धावस्था में राजपाट अपने पुत्रों को सौंप कर वे तपस्या के लिये जंगल में चले गये। वहाँ सौ वर्ष की आयु में उनका वैकुंठ वास हुआ

तीसरा अध्याय

महाराणी पद्मिनी

बापा ने जिस दिन चित्तौड़ को अपने हाथ में लिया, उसी दिन से वहां गुहिल-वंशियों की जड़ जम गई। धीरे २ चित्तौड़ के आस-पास की भूमि पर भी अपना अधिकार जमाकर इन लोगों ने अपने राज्य को एक विशाल साम्राज्य का रूप दिया। सन् ११५८ ई० के लगभग, बापा से तीसवीं पीढ़ी में, रणसिंह चित्तौड़ के राज्य सिंहासन पर बैठे। इन से रावल और राणा नामक दो शाखाएं फूटीं। रावल शाखा वाले चित्तौड़ के ही अधिपति बने रहे, परन्तु राणा शाखा वालों को सीसोदे की जागीर मिली। जिस से वे वहां जाकर रहने लगे। और इसी कारण सीसोदिया कहलाये। रणसिंह के पश्चात् भी रावल शाखा में तेजसिंह, समरसिंह, रत्नसिंह इत्यादि कई प्रतापी राजा हुए, जिन्हों ने समय समय पर दुश्मनों के दांत खट्टे कर बड़ा नाम कमाया। रावल शाखा के अन्तिम प्रतिनिधि रत्नसिंह हुए। इनके समय में सुल्तान अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की जिस से वहां के शासन में ही उलट फेर नहीं हुआ, बल्कि रत्नसिंह की मृत्यु के कारण, रावल शाखा की भी इतिश्री होगई। अब राणा शाखा वालों, अर्थात् सीसोदियों को चित्तौड़ पर शासन करने का अवसर मिला। जिस घटना का वर्णन हम अब आगे करते हैं, वह रावल रत्नसिंह के समय में घटी थी, और इसी

घटना चक्र में फँस कर उन्हें युवावस्था में ही अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा था। अस्तु,—

तेरहवीं शताब्दी की बात है। जिस समय चित्तौड़ और उसके आस पास के राज्यों पर रावल रत्नसिंह का बोल बाला था, उसी समय दिल्ली पर सुल्तान अलाउद्दीन का राज्य होने से



अलाउद्दीन ख़िलजी

भारत का अधिकांश भाग उसकी तलवार के नीचे थरथरा रहा था। रत्नसिंह बड़े वीर और धर्मिष्ठ राजा थे। उनका विवाह सिंहल द्वीप की राज्य कन्या पद्मिनी के साथ हुआ था। अपने पति की तरह पद्मिनी भी देश, धर्म और गौरव के लिये मर मिटने वाली एक धर्म परायणा महिला तो थी ही, साथ ही सौंदर्य की भी वह साक्षात् मूर्ति थी। उसकी मधुर मुसकान, कोकिल-कंठी स्वर और गजेन्द्र-गति पर संसार का सौंदर्य न्यौछावर था। भारत में उस समय उसके बराबर रूपवती स्त्री दूसरी न थी। जो कोई उसे एक बार भी देख लेता, उस के लावण्य की हज़ार बार प्रशंसा करता था। अलाउद्दीन ने जब उसके विश्व-व्यापी सौंदर्य की कथा सुनी तो उसका मन ललचा गया, और उसे अपनी बेगम बनाने के मंसूबे बांधने लगा। परन्तु जिस तरह सिंह की मांद में से सिंह के बच्चे को निकाल लेना कठिन होता है, उसी प्रकार पद्मिनी को भी राजपूतों से छीन लेना कठिन

था। कई दिनों तक सुल्तान पद्मिनी को हस्तगत करने की तदबीरें सोचता रहा। अन्त में जब कोई सुगम उपाय अपने उद्देश्य को सिद्ध करने का उसे न सूझा, तो उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। लेकिन रत्नसिंह भी कोई हतवीर्य न थे, जो सुल्तान से डर कर पद्मिनी उसे सौंप देते। अपनी सेना लेकर वे रण-क्षेत्र में आ डटे। भयंकर युद्ध हुआ। राजपूत योद्धा दिल खोल कर यवन सैन्य का संहार करने लगे। कई दिनों तक संग्राम होता रहा, परन्तु राजपूतों ने सुल्तान की दाल न गलने दी। अन्त में उसकी सेना के पाँव उखड़ गये, और वह रण भूमि से भाग निकली।

युद्ध से भी अपना काम न निकलते देख, अलाउद्दीन ने अब कपट का आश्रय लिया। एक दूत को भेजकर उसने कहला भेजा कि "मेरा इरादा रावल जी को तंग करने का न था, और न है। उन्हीं की बेसमझी और अदूरदर्शिता के कारण मुझे इतना रक्त बहाना पड़ा है। ख़ैर, होना था सो हो गया। अब मैं नहीं चाहता कि व्यर्थ के लिये हज़ारों निर्दोष व्यक्तियों का ख़ून बहाया जाय। यदि रावल जी और चित्तौड़ के सामन्त-सरदार अब भी मेरा उचित रूप से सत्कार करें, और वे बहुमूल्य रत्न, जिन्हें रत्नसिंह सिंहल से लाये हैं, मुझे दे दें, तो मैं आज ही सन्धि करने को तैयार हूं। रत्नों को लेकर मैं दिल्ली लौट जाऊँगा, और फिर कभी रावल जी के साथ युद्ध करने का विचार भी मन में न लाऊँगा।"

रावल रत्नसिंह की आर्थिक स्थिति दिन २ क्षीण हो रही थी। कई दिनों के लगातार युद्ध और दुर्ग में बन्द रहने के कारण

राजपूत वीर भी ऊब गये थे। सब लोग एक तरह से क़ैद थे, और अन्न दुष्प्राप्य होजाने से भूखों मर रहे थे। रत्नों के देने ही से युद्ध से छुटकारा होते देख, उन्हों ने सुल्तान की शर्तें मंजूर करलीं और दुर्ग में आकर रत्नों को लेजाने के लिये उसे निमंत्रित कर दिया। दूसरे दिन सुबह को अलाउद्दीन निःशस्त्र, केवल दो सिपाहियों को साथ ले अपने शिविर से रवाना हुआ। धर्म-प्राण राजपूतों ने भी दुर्ग के फाटक खोल कर निष्कपट भाव से उसका स्वागत किया और राजमहल के एक सुन्दर, सुसज्जित और सुवासित कक्ष में रहने का प्रबन्ध कर, धूम धाम से अपने अतिथि का सत्कार करने लगे। वेश्याएँ नाच-गान, तथा बड़े २ गायक अपनी कला की निपुणता दिखा कर सुल्तान का मन बहलाने लगे। देखते ही देखते समस्त दुर्ग आमोद-प्रमोद, राग-रङ्ग और हँसी-ख़ुशी से गूंज उठा। अलाउद्दीन वेश्याओं की निपुणता पर तो मुग्ध था ही, साथ ही राजमहल की सजावट, चित्रकारी और विलास सामग्री ने भी उसे आश्चर्य में डाल रक्खा था। जिस वैभव की वह अभी तक कहानियाँ मात्र सुन रहा था, उसी को आज उसने अपनी आँखों से देखा; और देख कर हैरत में पड़ गया। उसके हृदय में द्वेष की आग धधकने लगी! गायन समाप्त होने के पश्चात् भोजन हुआ। तदुपरान्त रत्नसिंह और सुल्तान शतरञ्ज खेलने लगे।

इसी समय पद्मिनी की दासियों ने उसके सामने अलाउद्दीन के रूपरङ्ग और ऐश्वर्य की प्रशंसा की और कम से कम एक बार सुल्तान को देख लेने का बड़ा आग्रह किया। सुल्तान के सामने दीवार पर एक बड़ा दर्पण रक्खा हुआ था। दासियों के कहने से राणी अलाउद्दीन को देखने के लिये जब झरोखे में आई तो

उसका प्रतिबिम्ब उस दर्पण में गिरा और क्षण भर के लिये सुल्तान को उसके रूप की झाँकी होगई। राणी को इसकी ख़बर न थी। एक बार सुल्तान को देखते ही उसने चट से पीछे हट-कर घूंघट निकाल लिया, परन्तु अब क्या? सुल्तान को तो उस के रूप की झाँकी हो चुकी थी। वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसकी दशा ही कुछ और होगई। थोड़ी देर के बाद जब वह सँभला, तो सिर में दर्द होने का बहाना कर वहां से शयनागार में खिसक गया। परन्तु एक पल के लिये भी उसकी आँख न लगी। रात भर वह करवटें बदलता और पद्मिनी के स्वप्न देखता रहा। उसने मन में संकल्प कर लिया कि चाहे धन से, चाहे छल से, चाहे बल से, कैसे भी हो, परन्तु पद्मिनी के साथ विवाह कर ही के रहूंगा।

प्रातः काल होते ही सुल्तान रत्नों को ले तथा बड़ा स्नेह और आदर भाव बतला कर शिविर को रवाना हुआ। राणा रत्नसिंह भी अपने कुल की मर्यादा के अनुसार उसे फाटक तक पहुँचाने के लिये उसके साथ हुए। मार्ग में अलाउद्दीन अपनी भूल की क्षमा मांगने लगा, और इधर उधर की चिकनी चुपड़ी बातों में फँसा कर उन्हें अपने साथ लिवा ले गया। उसके वाग्जाल में फँस कर रत्नसिंह भी बहुत दूर निकल गये। इतने में एक गुप्त स्थान से निकल कर कुछ शस्त्रधारी मुसलमान रत्नसिंह पर टूट पड़े और बन्दी बनाकर उन्हें शिविर में ले गये। वहाँ से सुल्तान ने कहला भेजा कि "जब तक पद्मिनी न भेज दी जायगी, राजा नहीं छूट सकता।"

अलाउद्दीन की इस धूर्तता का संवाद सारे नगर में दावानल

की तरह फैल गया। घर २ में हाय-तोबा मच गई। चित्तौड़ वासियों के क्रोध और दुःख का पारावार न रहा। पद्मिनी तो दुःख से पागल सी होगई। क्रोध, अपमान और शोक की पीड़ा से उसका हृदय जलने लगा। उसके नेत्रों में आँसू छलछला आये, और आँचल में मुख छिपा कर रोने लगी। उसकी आँखें भी रोती थीं, और हृदय भी। मनोव्यथा जब कुछ शांत हुई, तब उसने अपने मुख्य २ सरदारों की एक सभा की और सब मिल-कर रावल जी के छुटकारे का उपाय सोचने लगे। बहुत देर तक वाद विवाद हुआ। सब अपनी २ राय देते रहे, परन्तु कोई मार्ग न निकला। अन्त में पद्मिनी ने कहा—भाइयो! सब जगह सच्चाई से काम नहीं चलता। इसलिये आप को भी कपट का बदला कपट से ही लेना चाहिये। पापी पर रहम दिखाना उतना ही बुरा है, जितना कि धर्मात्मा पर अत्याचार करना। राणी की राय सब को पसन्द आगई। अन्त में सर्व साधारण पर यह बात प्रकट कर दी गई कि रत्नसिंह को बन्धन-मुक्त करने के लिये पद्मिनी बादशाह के पास चली जाने को तैयार है। सरदार-सामन्तों के उक्त निर्णय को सुन कर चित्तौड़ निवासी आश्चर्य-सागर में डूब गये, और तरह २ की कल्पनाएँ करने लगे। कोई पद्मिनी पर लाँछन लगाता था; कोई सरदारों पर गालियों की बौछार करता था; और कोई स्वामि हित के लिये आर्य ललनाओं को सब कुछ करने का अधिकार देकर सरदारों की राय का समर्थन करता था। परन्तु, वास्तविक रहस्य को अभी तक कोई नहीं समझ सका।

अलाउद्दीन के पास एक दूत भेजा गया। उस ने जाकर निवेदन किया कि जिस समय चित्तौड़ से आप अपनी सेना के

घेरे को उठा लेंगे, उसी दिन परम सुंदरी पद्मिनी आप के पास आजायगी। परन्तु वह कहती है कि जब मैं आऊँगी, अपने साथ अपनी सखी सहेलियों को भी लाऊँगी। अलाउद्दीन पद्मिनी के लिये बावला हो रहा था। जब उसने पद्मिनी के आने की बात सुनी तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। मुंह मांगा वरदान मिल गया। अब क्या चाहिये? बात भी ठीक है। जिस वस्तु की आशा वर्षों से लग रही हो, जिसकी प्राप्ति के लिये इतनी परेशानी उठानी पड़ी हो तथा हज़ारों बे गुनाहों का ख़ून बहाना पड़ा हो, उसे प्राप्त कर किसका हृदय न नाच उठेगा? वह मन ही मन अपनी चाल की प्रशंसा करने और दूतों को बुलाकर कहने लगा, "जाओ! जितनी जल्दी हो सके पद्मिनी को लेकर आओ। जो कुछ भी वह कहे, उसका पालन करो, क्योंकि आज से वह न केवल मेरे राज्य की स्वामिनी, किन्तु मेरे तन और मन की स्वामिनी हुई है।"

प्रातःकाल का समय था। भगवान् भास्कर की किरणें पर्वत-श्रृंग पर लोट रही थीं। प्रभात वायु अधखिली कलियों से अठखेलियाँ कर रही थी। शाखाएँ सुगन्धित पवन में झूमती थीं और पत्ते हर्ष से तालियाँ बजाते थे। दो-एक पक्षी जगकर मीठे स्वर में प्रभाती गा रहे थे। ऐसे ही समय में चित्तौड़-दुर्ग के विशाल फाटक खुले और पालकियों की एक लंबी क़तार क़िले के ढालू और चक्करदार रास्ते पर बड़ी ही शान्ति से उतरती हुई दिखाई पड़ी। पद्मिनी का काका गोरा और चचेरा भाई बादल नंगी तलवारें लेकर पालकियों के साथ चल रहे थे। देखते ही देखते सात सौ पालकियाँ शाही डेरों के पास पहुँचीं। डोलियों में क्या सच मुच ही पद्मिनी की दासियाँ और सखियाँ थीं?

नहीं, उनमें चित्तौड़ के सात सौ साहसी योद्धा बैठे थे। छः छः वीर राजपूत कहारों का बनावटी वेश बनाये एक २ पालकी को कंधों पर लिये हुए थे, और प्रत्येक के अन्दर भी एक २ सशस्त्र वीर राजपूत चुपचाप बैठा हुआ था। उसी के पास छः कहार वेषधारी राजपूतों के यवन-रक्त पिपासु अस्त्र-शस्त्र रक्खे हुये थे। पालकियों पर परदे पड़े हुए थे। सब डोलियाँ जब शाही खेमों में पहुँच गईं तो गोरा ने अलाउद्दीन से कहा:—"अब हमारे राजा को मुक्त कर दो, रानी तुम्हें सौंप दी गई है।" अलाउद्दीन ने उत्तर दिया—'अभी नहीं, ज़रा धीरज रक्खो, ऐसी जल्दी क्या है? हमारा एक आदमी क़ाज़ी साहब को बुलाने गया है। अभी आ ही रहे होंगे। उनके आते ही जब निकाह हो जायगा, मैं रत्नसिंह को छोड़ दूँगा, और तुम्हें भी पुरस्कार देकर बिदा करूँगा।' बादशाह के शब्द गोरा को बाण के समान लगे। उसकी त्यौरी चढ़ गई; क्रोध से मुंह लाल हो गया और ओठ फड़कने लगे। परन्तु वह उसी समय सँभल गया और बोला—'हाँ-हाँ ठीक है–कोई हर्ज नहीं। परन्तु, हुज़ूर पद्मिनी चाहती है कि मैं विवाह संस्कार के पूर्व महाराणा से अंतिम भेंट और दो बातें करलूँ।'

अलाउद्दीन को अपने शरीर की भी सुध न थी। सोचा—अब तो पक्षी पिंजड़े में बन्द है; डर ही किसका? रानी अब कहाँ जा सकती है? बस, दो घड़ी के लिये रावल जी को मुक्त कर दिया। कृत्रिम रानी, जो एक पालकी में बैठी हुई थी, उन से मिलने आई। राजपूत चट पट रत्नसिंह को पालकी में बिठा कर चित्तौड़ की ओर चल पड़े। शेष पालकियां मानो पद्मिनी के साथ दिल्ली जाने के लिये वहीं रह गईं।

सुलतान बड़े धैर्य्य के साथ रानी की प्रतीक्षा करने लगा। एक घड़ी बीती; दूसरी घड़ी बीती और तीसरी भी बीत गई; फिर भी जब रानी नहीं आई, तो उसे अत्यन्त डाह हुआ। डाह से संदेह और संदेह से क्रोध हुआ। तदनन्तर वह निःशंक होकर उस तम्बू में चला गया जहाँ रत्नसिंह क़ैद थे। पर वहाँ कोई नहीं मिला। केवल एक राजपूत हथियार बाँधे खड़ा था। पैर के नीचे भयंकर काले साँप को देखकर जिस प्रकार बटोही चौंक उठता है, उसी प्रकार सुलतान चौंक उठा। उसका मुख पीला पड़ गया, और दग़ा! दग़ा!! चिल्लाता हुआ वह वहाँ से भागा। उसका चिल्लाना सुनते ही सब मुसलमान सिपाही उस तरफ़ दौड़ पड़े। इसी समय डोलियों के परदे उठे और उन में से सैनिक निकल कर शत्रु-सैन्य को काट २ कर गिराने लगे। कहारों ने भी अपने हथियार सँभाले। मार काट शुरू हुई। इधर मुसल-मानों का एक दल रत्नसिंह को पकड़ने के लिये दुर्ग की ओर चला। परन्तु वीर राजपूतों ने प्राण रहते एक भी मुसलमान सिपाही को आगे न बढ़ने दिया, और वे अच्छी तरह से दुर्ग में पहुँच गये।

यों तो सभी राजपूत इस युद्ध में दिल खोल कर लड़े, किन्तु वीरवर गोरा और उसके भतीजे बादल ने अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। वीर बादल की अवस्था उस समय केवल १२ वर्ष की थी। इन दोनों की वीरता, साहस, रण कौशल और काट छाँट को देखकर बड़े २ मुसलमान और हिन्दू रण-विशारद दाँतों तले अंगुली दबाने लगे। दो वीर दो सौ का काम कर रहे थे। जिधर ये हथियार लेकर निकल जाते, उधर का मैदान ही साफ़ हो जाता था। उस समय उनका उत्साह सराहनीय था। उनकी

वीरता प्रशंसनीय थी। अन्य राजपूत वीरों के साथ वीरवर गोरा भी वीर गति को प्राप्त हुआ। बादल अकेला रह गया। गोरा को खोकर बादल घर आया। परदेश में पूँजी खोकर घर लौटते समय जो दशा एक व्यापारी की होती है, कुछ २ वैसी ही दशा इस समय बादल की थी। गोरा की कथा बादल ने चित्ताड़ वासियों से कही। उसे सुनकर सब की आँखों से आँसू निकल पड़े। परंतु वह रण भूमि में मरा था, देश के लिये मरा था और उसने अपने सरदार की सहायता में अपने प्राण दिये थे। इसलिये उसकी मृत्यु गौरव का कारण हुई।

बारह वर्ष का बालक बादल लहू-लुहान और घायल होकर अपनी चाची के पास आकर खड़ा हुआ और अश्रुप्लावित आंखों से उसकी ओर देखने लगा। वह स्थिर, निश्चल और निर्वाक् था। वीर बालक को इस प्रकार खड़ा देख कर गोरा की शोक ग्रस्ता, विधवा पत्नी ने कहा—"बादल, अब क्या कहोगे? क्या बाक़ी रहा है। मैं सब सुन चुकी हूं। तुम केवल यह बतलाओ कि मेरे स्वामी ने, मेरे प्राणेश्वर ने कैसी वीरता दिखलाई? किस प्रकार क्षत्रिय धर्म का पालन किया? बेटा! कहो चुप मत रहो। इस से मुझे बहुत कुछ शान्ति मिलेगी।" बादल क्या बोलता? वह चुपचाप आँसुओं की धारा बहा रहा था। उसकी जीभ रुक गई और घावों से रुधिर बहने लगा। कहा—"माता, क्या कहूं, किन शब्दों में कहूं, कैसे कहूं? उन्हीं की वीरता से आज क्षत्रिय कुल के गौरव की रक्षा हुई है। धान कांटता हुआ कृषक जिस प्रकार खेत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंच जाता है, उसी प्रकार काका जी भी विधर्मियों को काट कर रणभूमि से पार हो रहे थे। मैं तो केवल उनके पीछे २

चलता था। असंख्य यवनों के रक्त से रणचण्डी को तृप्त कर, और शत्रु-कुल के मृत शरीरों का बिछौना बिछाकर वे अनंत निद्रा में सो रहे हैं। चाची, दुश्मन भी उनकी तलवार की चोटों की प्रशंसा करते थे। उन्हीं के कारण आज यवन सेना को मुंह की खानी पड़ी है।" यह सुन कर गोरा की स्त्री का मुख-मंडल खिल उठा। उसने आशीर्वाद दिया और बोली—"बेटा! तुम भी इसी प्रकार अपने गौरव की रक्षा करना, और अपने चाचा की तरह देश के लिये बलिदान होकर वीर गति को प्राप्त होना। लो, अब मैं जाती हूं, प्राण प्यारे स्वर्ग में मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे! विलंब होने से कहीं मेरा तिरस्कार न कर बैठें।"

वीरवर गोरा की दाह क्रिया के लिये चिता पहले ही से तैयार थी और चित्तोड़ पुरी के समस्त नर-नारी वहाँ विद्यमान थे। चिता पर चढ़ जब उस वीरांगना ने अपने पति के शव को गोद में ले लिया, उस में आग लगादी गई। चारों तरफ अटल शान्ति थी। लोग अश्रु-पूर्ण और भयातुर नेत्रों से यौवन, सौंदर्य और रमणीयता की मूर्ति गोरा की स्त्री की ओर देख रहे थे। धू-धू करके चिता जलने लगी और पल भर में ज्वाल-समूह ने उस वीरांगना को चारों ओर से घेर लिया। लाश के साथ २गोरा की स्त्री का शरीर भी जलने लगा। साहस और धीरता से वह टुकुर-टुकुर जन समूह को ओर देखती रही। उफ़ तक न की। धीरे धीरे आग की लौ शिर तक पहुंची और उस के लंबे २ केश घास फूस की तरह जलने लगे। उसकी गर्दन नीचे लटक गई। आँखों की पुतलियाँ फिर गईं और थोड़ी देर में उस मानव देह के स्थान पर एक राख का ढेर बच रहा !!

———*———

चौथा अध्याय

चित्तौड़ का पहला शाका

(राणा लक्ष्मणसिंह का स्वप्न)

वीर गोरा और बादल की अनुपम वीरता, राजपूत वीरों की सहयोगिता और सामन्त-सरदारों की नीति कुशलता के सामने अलाउद्दीन की एक न चली, और उसे हार कर दिल्ली लौट जाना पड़ा। यह उस के लिये कम अपमान की बात न थी। अब उसे चाहिये तो यह था कि पद्मिनी के लेने का विचार ही वह हृदय से निकाल देता। मगर कहाँ ? वह एक विशाल साम्राज्य का अधीश्वर था। हिमालय की गगन स्पर्शी चोटी से लेकर दूर-सुदूर दक्षिण में कावेरी तक उसका राज्य था। उसके नाम से माताएँ अपने रोते बच्चों को डराया करती थीं। उसके राज्य के फाटकों पर सदैव कटे हुए शिर लगे रहते थे। उसके पास धन था, बल था, और साथ ही उस में अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने की बान थी। जिस बात को वह पकड़ लेता, उसे पूरी कर ही के छोड़ता था। सब साधनों के होते हुए भी उन्हें काम में न लाना और चुप चाप हार स्वीकार कर लेना, अलाउद्दीन जैसे व्यक्ति के लिये असंभव था। पहली बार पराजित होकर वह लौट तो गया, परन्तु उसके हृदय से पद्मिनी के लेने की बलवती इच्छा न हटी। उसने फिर चढ़ाई की ठानी, और इस बार संकल्प कर लिया कि जब तक मेरा या राजपूतों का फ़ैसला नहीं हो जायगा, दिल्ली लौट कर नहीं आऊँगा। अलाउद्दीन के रहते हुए अब राजपूत चित्तौड़ में सुख की नींद नहीं सो सकते।

यदि वे आराम से रहना चाहें तो पद्मिनी को देकर, ग़ुलाम बन कर रह सकते हैं; नहीं तो, नहीं। विपत्तियां उठाऊँगा, कष्ट सहूंगा, मर मिटूंगा, परन्तु वह काम अवश्य करूँगा जिस से मेरे अपमान—दग्ध—हृदय को शान्ति मिले। ऐसी भीषण प्रतिज्ञा कर सुल्तान सन् १३०३ ई० में फिर चित्तौड़ पर चढ़ आया।

इस बार अलाउद्दीन ने नगर के पूर्वीय भाग में अपना पड़ाव डाला और भीतरी भाग की देख रेख के लिये वहाँ एक ऊँचा टीला बनवाना शुरू किया। ज्यों २ टीला ऊपर उठता, राजपूतों का साहस ढीला पड़ता जाता था। वे जानते थे कि हम कितने ही वीर और साहसी क्यों न हों, परंतु इस बार सुल्तान की असंख्य सेना का सामना करना कठिन है। कुछ महीनों के बाद जब यह आकाश चुम्बी टीला बन चुका तो सुल्तान ने उस पर पत्थर बरसाने के कई यन्त्र और बड़ी २ तोपें रखवाईं। तदुपरान्त नगर के चारों ओर गहरी खाई खुदवा कर निर्दयी सुल्तान ने युद्ध का धावा बोल दिया।

युद्ध आरम्भ हुआ। तीर पर तीर और गोले पर गोले बरसने लगे। टीले पर रखे हुए यन्त्र और तोपें पत्थर, गोले और आग उगल २ कर राजपूत-दल का संहार करने लगे। प्राणों का मोह छोड़ कर राजपूतों ने भी भयंकर रूप से यवन—सत्ता से होली खेलना शुरू किया। उन्हों ने प्राणों की बाज़ी लगादी, परन्तु वे मुट्ठी भर वीर एक अथाह सैन्य—समुद्र का कहाँ तक सामना करते? एक के लिये दो ही काफ़ी होते हैं; फिर यहाँ तो एक राजपूत के ऊपर कई मुसलमान आ टूटते थे। भीषण मार काट

शुरू हुई। रावल रत्नसिंह भी सिंह की तरह घूम २ कर शत्रुओं को धराशायी करने लगे और अंत में स्वयं भी काम आये।

रावल जी के कारण अभी तक राजपूतों की हिम्मत बँधी हुई थी। उनके मरते हो राजपूत सैन्य में खलबली मचगई। वोरों का रहा सहा साहस भी जाता रहा। अपनी सेना को निरुत्साह तथा उसके पाँव उखड़ते देख सीसोदे के राणा लक्ष्मण-सिंह ने सेनापति का भार अपने ऊपर लिया, और स्वयं आगे रह कर सैनिकों में उत्साह भरने लगे। युद्ध ने फिर बल पकड़ा। दोनों पक्ष के वीर फिर से जम कर युद्ध करने लगे। फलतः आज का युद्ध भी अनिश्चित ही रहा। संध्या समय जब संग्राम समाप्त हुआ तो योद्धा अपने २ घर आये। परन्तु रावल रत्नसिंह को मृत्यु के कारण राजपूतों के मुंह आज मुरझाये हुए थे। राणा लक्ष्मणसिंह ने भी सेना की देख भाल का काम अपने ऊपर ले तो लिया, परन्तु निराशा उन्हें भी कम न थी। वे जानते थे कि गढ़ को विजय करते ही अलाउद्दीन नगर को नष्ट कर देगा और एक बालक भी उसके कठोर हाथों से न बच सकेगा। सब के सब धरापृष्ठ से अवलुप्त हो जायँगे।

अर्ध रात्रि का समय था। राणा लक्ष्मण सिंह दिन भर की थकान दूर करने की इच्छा से शयनागार में आराम कर रहे थे। समस्त संसार निद्रा देवी की गोद में विश्राम ले रहा था। चारों ओर अटल निस्तब्धता छाई हुई थी। 'चूं' का शब्द भी नहीं होता था। हां, कभी २ हवा के थपेड़ों से विश्राम भवन की खिड़कियों के किवाड़ों के टकराने का शब्द अवश्य सुनाई देता था। लेकिन वह भी थोड़ी देर में रात्रि के सन्नाटे और अन्धकार की निविड़ता

में विलीन होजाता था। परन्तु, शान्ति के इस पूर्ण साम्राज्य में भी राणा के हृदय में अशान्ति की लहरें उठ रही थीं। वे कभी करवटें बदलते, कभी चित्तौड़ के भविष्य को सोच कर उद्विग्न हो उठते। कभी उठ कर घूमने लगते, और फिर आकर पलंग पर बैठ जाते थे। वे सोच रहे थे कि इस घोर संकट के समय कौन बापा के गौरव की रक्षा करेगा? इस विपत्ति के समय, यवन सेना के हाथ से बचकर, किस प्रकार उन के पुत्रों में से एक भी जीता रह कर पितृ-गणों को पिण्ड दान देने में समर्थ हो सकेगा? शोक-सागर में मग्न राणा इस प्रकार विचारों की उधेड़ बुन में लगे हुये थे कि इतने में उस अंधकारमयी रजनी की शान्ति को भङ्ग कर के कोई गंभीर कंठ से कह उठा–'मैं भूखी हूं।' राणा के विचारों की लड़ी टूट गई। जिधर से यह आवाज़ आई थी, उधर मुंह फेर कर देखने लगे। टिम टिमाते हुये दीपक के क्षीण प्रकाश में उन्हों ने देखा कि पत्थर के खंभों के बीच में चित्तौड़ की अधिष्ठात्री देवी प्रकट हुई है। राणा उठ खड़े हुये और बोले-'ऐ चित्तौड़ की देवी! मेरे आठ हज़ार सरदार तो मारे जा चुके हैं। क्या अब भी तेरी रक्त की प्यास न बुझी? देवी बोली—'नहीं, मैं राजसी बलि-दान चाहती हूं। यदि तेरे राजकुमार रण-क्षेत्र में प्राण न देंगे, तो मेवाड़ का राज्य बापा के वंशधरों के हाथ से सदैव के लिये निकल जायगा।' इन शब्दों का सीधा सादा अर्थ यही था कि राणा के आठ लड़के भी लड़ने को तैयार हो जायँ, जिस से राजपूतों का ढाढ़स बँधा रहे। देवी की आज्ञा सुन कर राणा घोर संकट में पड़ गये।

प्रातःकाल होते ही उन्हों ने अपने सरदारों को एकत्रित किया और रात्रि की सारी घटना कह सुनाई, किन्तु किसी को भी

विश्वास न हुआ। सब ने हँस कर यही कहा कि महाराज को भ्रम होगया है। इस पर राणा ने कहा कि आज यदि आधी रात को आप सब मेरे शयनागार में रहें तो आप को विदित होजायगा कि जो कुछ मैंने कहा है, वह झूठ नहीं बल्कि सत्य है। रात्रि को सब लोग वहीं रहे। जब अर्ध रात्रि का समय हुआ तो वही छाया-मूर्ति यह कहती हुई दिखाई दी–'प्रति दिन कई म्लेच्छ रण-भूमि में प्राण देते हैं, परन्तु इस से मुझे क्या ? मैं राजसी बलि-दान चाहती हूं। अपने पुत्रों को एक एक करके राजमुकुट पहना कर समर-भूमि में भेजो। ऐसा करने ही से चित्तौड़ पर तुम्हारे वंशजों का अधिपत्य बना रह सकेगा।' जब सरदारों ने अपनी आंखों से सब कुछ देख लिया तो उन्हें विश्वास होगया, और देवी की कठोर आज्ञा पालन करने के लिये तत्पर होगये।

अब राणा लक्ष्मणसिंह के पुत्रों में बहस होने लगी। एक कहता था कि सब से पहले मैं लड़ने जाऊँगा, दूसरा कहता था मैं जाऊँगा। परन्तु अरिसिंह सब से बड़े होने का कारण बताकर देवी की आज्ञा के अनुसार राजसिंहासन पर सुशोभित हुए। तीन दिन तक यथायोग्य राज्य सम्मान पाकर चौथे दिन वह समर क्षेत्र की ओर चले। राजकुमार बड़ी वीरता से लड़े। जिधर वह झुकते थे, उधर झुण्ड के झुण्ड साफ़ कर देते थे। परन्तु अ-गणित मुसलमानों के सामने वे न टिक सके और तलवार के हाथ बतलाते हुए इस संसार से सदा के लिये बिदा होगये। इसी प्रकार एक २ करके जब सात लड़के मर चुके, और सब से छोटा पुत्र अजयसिंह भी घायल होकर केलवाड़े के पहाड़ों में चला गया तो राणा स्वयं इस बलिदान के लिये तैयार होगये। अधिक विलम्ब न कर उन्हों ने जौहर करने की आज्ञा देदी। जौहर उस

समय किया जाता था जब जीने की कोई आशा न रहती थी। राजपूत मरने मारने के लिये केसरिया वस्त्र पहिन तथा नंगी तलवारें लेकर अन्तिम बार दुर्ग के बाहर निकलने को तैयार हो जाते थे, और राजपूतनियाँ अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा और युद्ध में जाने वाले वीरों का साहस बढ़ाने के लिये उन के सामने ही धधकती हुई चिता में प्रविष्ट हो कर भस्म होजाती थीं। अब धर्म, प्राण, दुर्ग और देश की रक्षा का कोई उपाय न था; इसलिये जौहर व्रत का पालन करना आवश्यक होगया।

राजमहल के पास एक सुरंग थी। दिन भर कड़ी मिहनत करके राजपूतों ने इस सुरंग को ठसाठस लकड़ियों से भर दिया और कई मन घी, तेल आदि दाहक पदार्थ छिड़क कर उन में आग लगा दी। अब क्षत्राणियों के बलिदान का समय आया। देखते ही देखते सुरंग के सामने कई क्षत्राणियों और उन के सगे सम्बन्धियों की भीड़ लग गई। देश प्रेम से मतवाले राजपूत आज कुटुम्बियों के स्नेह को भूल गये और छाती को कड़ी कर; उस पर पत्थर रखकर, सब उन्हें बिदाई देने लगे। भाई का बहिन से, पुत्र का माता से, कन्या का पिता से, और पत्नी का पति से बिछुड़ने का रोमाञ्चकारी दृश्य था। चारों तरफ़ करुण रस उमड़ रहा था। चित्तौड़ वासियों के दुःख से आज प्रकृति भी आठ २ आँसू रो रही थी। आकाश में बादल बेचैनी से इधर उधर दौड़ रहे थे; पवन चीख़ रही थी; दिशायें उसासें भर रही थीं। पास ही वृक्ष पर बैठी हुई कोयल अलसाये स्वर में कूक रही थी। अपने २ कुटुम्बियों से मिल लेने के पश्चात् सब राजपूत ललनाओं ने अग्नि की पूजा की, उस पर फूलों की

वर्षा की और फिर.यह गाती हुई—

अगन अब राखो लाज हमारी।

हम सब बाला निपट बिहाला, पति बिन परम दुखारी।

बेग कृपा करि भसम करो अब. हम सब शरण तिहारी।।

धीरे २ सुरंग में प्रवेश करने लगीं। सामने ही सीढ़ियां बनी हुई थीं। सब से पहले सुर-मन-मोहिनी पद्मिनी ने पहली सीढ़ी पर पाँव रक्खा। फिर दूसरी वीराङ्गना ने; फिर तीसरी ने। इस प्रकार एक २ कर के सब महिलायें जब भीतर घुस गईं, सुरंग का विशाल लोह कपाट भयंकर शब्द करके बन्द होगया। अपनी माताओं, पुत्रियों, बहिनों और पत्नियों को इस प्रकार मृत्यु-मुख में घुसते देख कर राजपूतों को भी जोश आगया और वे भी अपनी प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिये मरने को उद्यत होगये। अब उन को जीकर करना ही क्या था?

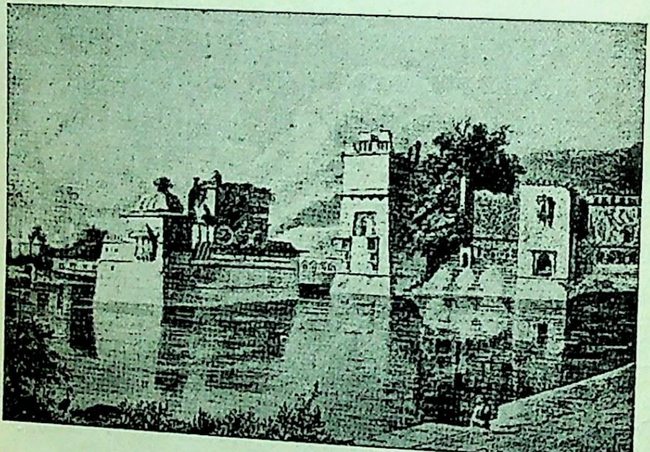
राणा लक्ष्मणसिंह ने केसरिया बागा पहन लिया, हाथ में चमचमाती हुई नंगी तलवार लेली और बचे खुचे राजपूत वीरों को साथ ले–'जय एकलिंग जी की जय' कहते हुये अलाउद्दीन की सेना पर जा टूटे। युद्ध ने फिर रंग पकड़ा। जयाजय का विचार छोड़ दोनों तरफ़ के वीर अंधा धुन्ध तलवारें चलाने लगे। समर-प्राङ्गण पर रक्त की नदियाँ बहने लगीं, और कटे हुये रुंड-मुण्ड तथा हाथ-पैर की अधिकता के कारण इधर उधर फिरना कठिन होगया। राजपूतों ने आज बड़ी ही भयंकरता से युद्ध किया, परंतु उमड़े हुये समुद्र के समान अलाउद्दीन की उमड़ी हुई सेना के सामने उनका सारा पराक्रम रक्त के रूप में बह गया। अलौकिक वीरता दिखाता हुआ प्रत्येक राजपूत वीर,

वीर गति को प्राप्त हुआ। उस दिन एक भी राजपूत ने लौट कर अपने केसरिया वस्त्र को अपयश से काला न किया।

जब सारे राजपूत मारे गये और एक भी वीर न बचा, अलाउद्दीन गढ़ के भीतर घुसा। गली कूचों में लाशें पड़ी हुई सड़ रही थीं। स्थान २ पर छोटे २ गड्ढे लोहू से भरे थे। समस्त भूमि श्मशान के समान शून्य और भयंकर प्रतीत होती थी। टूटी फूटी दीवारें, सुनसान दालान, जीर्ण शीर्ण खण्डहर और जन-शून्य चौराहे काटने को दौड़ते थे। कहीं गीध मरे हुए वीर की आँख निकाल रहा था, कहीं शृगाल निर्जीव देह को घसीट रहा था, कहीं काँव २ करता हुआ कौआ खोपड़ी में से रक्त पी रहा था और कहीं मांस के छोटे से टुकड़े के लिये लड़ते हुये दो कुत्ते अपने कुत्तेपन का परिचय दे रहे थे। चारों ओर प्रलय सा मचा हुआ था। एक तरफ़ से धुआँ निकल रहा था। चर्म के सनसनाने, चर्बी मांस के सीझने, अस्थियों के चटखने आदि के भयप्रद नाद से समस्त आकाश मण्डल गूँज रहा था। अलाउद्दीन उन्मत्त मनुष्य की भांति पद्मिनी की खोज करने लगा, परंतु वहां क्या रक्खा था? जिस के लिये उसने इतना रक्त बहाया; जिसकी प्राप्ति के लिये उसने मरने मारने की प्रतिज्ञा की और मेवाड़ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रलय सा उपस्थित किया, वह तो पहले ही अग्नि के भेंट हो चुकी थी। सामने एक राख का ढेर पड़ा था जो उन प्रतिव्रता स्त्रियों के साहस और पवित्रता का एक मात्र चिह्न था। सुल्तान उसे देख कर स्तब्ध रह गया। मूक होकर ज्ञान-शून्य दृष्टि से चारों ओर देखने लगा। संसार का सौन्दर्य एक मुट्ठी भर राख की ढेरी के रूप में उस के सामने

पड़ा हुआ उसका उपहास कर रहा था। सुल्तान के दरबारियों ने देखा कि उसकी आँखों में आँसू थे !!

चित्तौड़ की यह दशा और अपने उद्देश्यों को इस तरह पंगु होते देख कर अलाउद्दीन के शोक का पारावार न रहा। उसे बदला लेने के लिये जब कोई सजीव प्राणी नहीं मिला तो उसने क्रोधवश चित्तौड़ के, एक पद्मिनी के महल को छोड़ कर, सब



पद्मिनी के महल

राज्य प्रासाद और देव-मन्दिर तुड़वा डाले, और इस प्रकार वहाँ की प्राचीन कारीगरी को नष्ट भ्रष्ट कर अन्त में टूटे-फूटे खण्डहरों का राज्य अपने पुत्र ख़िज़र खाँ को सौंप, आप विजयी होने पर भी हारे हुये की तरह नत मस्तक होकर दिल्ली लौट गया।

प्यारे बालको ! पौराणिक काल से लगा कर आज तक भारतवर्ष में धर्म के लिये, धन के लिये और साम्राज्य-विस्तार के लिये अनेकों युद्ध हुये हैं, किन्तु पद्मिनी के अनुपम और घातक सौन्दर्य के कारण जो रक्तपात और नर-संहार चित्तोड़ में हुआ, वह अपने ढंग का निराला ही था। राजपूत योद्धाओं और वीर ललनाओं को मरे कई सौ वर्ष बीत गये हैं, परंतु उनकी वीरता और अलाउद्दीन की कठोरता, पिशाचता और नृशंसता के गीत आज भी चित्तोड़ के पशु पक्षी गा रहे हैं। शोक ! आज कल के राजपूतों में वीरता और तेजस्विता का अभाव सा है। आलस्य, अफ़ीम और आसव की अत्यधिक अर्चना के कारण वे दीन और कर्महीन होगये हैं, परन्तु फिर भी जब कभी वे पद्मिनी की कथा सुन लेते हैं, तो उन में वीर रस का संचार होजाता है और देश प्रेम और वीर पूजा के भाव जागृत हो उठते हैं।

पांचवा अध्याय

राणाहंमीर

(जन्म और बाल्यावस्था)

सुलतान अलाउद्दीन के चित्तौड़ उजाड़ने के कुछ वर्ष पहिले की बात है, कि एक दिन राणा लक्ष्मणसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अरिसिंह शिकार खेलने के लिये जंगल में गये। उनके साथ कुछ सरदार, सामन्त और नौकर भी थे। एक सूअर को देखकर अरिसिंह ने उस पर तीर चलाया, परन्तु निशाना चूक जाने से सूअर भाग कर पास ही के एक जवार के खेत में घुस गया। अरिसिंह भी उसके पीछे २ खेत में घुसे। खेत के बीच में एक ऊँचा मचान था। उस पर बैठी हुई एक किसान की कन्या गोफन में पत्थर रख २ कर चिर क्षुभुक्षित पक्षियों को उड़ा रही थी। एक अपरिचित व्यक्ति को खेत में आया हुआ देख, वह अपने मचान से नीचे उतरी और गोफन पर मिट्टी का ढेला जमाती हुई, अरिसिंह की ओर मुंह मोड़कर नम्रता से बोली—"अब आप अधिक परिश्रम न कीजिये। मैं अभी सूअर को इधर हाँके देती हूं।" कन्या के शब्दों को सुनकर कुमार को हँसी आई और मजाक देखने की आशा से बोले—"अच्छी बात है, हम भी देखें।" यह सुनकर उस कन्या ने जवार का एक डंठल ज़मीन से उखाड़ लिया, और उसे जल्दी २ अपनी छोटी छूरी से तीखा कर मचान पर चढ़ गई। फिर उस लकड़ी के तीर को उसने अपने धनुष पर चढ़ा कर ऐसे वेग से मारा कि उसके लगते ही सूअर

वहीं मर कर लंबा हो गया। तदुपरांत वह कन्या एक हाथ से घसीटती हुई उस मरे हुए सूअर को खेत के बाहर लाई और चुपचाप कुमार के सामने रखकर चली गई।

कुमार अरिसिंह और उनके साथी कन्या के अद्भुत साहस और बल को देखकर बड़े विस्मित हुए। सब के सब मुक्त कंठ से उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए पास ही एक वृक्ष के नीचे बैठ कर भोजन की तैयारी कर ही रहे थे कि इतने में मिट्टी का एक ढेला अरिसिंह के कानों के पास से सनसनाता हुआ निकला और उनके घोड़े की टाँग में इतने ज़ोर से लगा कि उसका एक पाँव टूट गया और वह धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। सब लोग चकित होकर जब चारों ओर देखने लगे तो क्या देखते हैं कि वही लड़की मचान पर खड़ी २ गोफन फिरा कर पक्षियों को उड़ा रही है। सब समझ गये कि उसी के चलाये हुए ढेले से घोड़े का पाँव बेकाम हो गया है। इसकी ख़बर जब बालिका को लगी तो वह दौड़ी हुई कुमार के पास आई और क्षमा याचना करने लगी। उसकी निर्भीकता, सभ्यता, शील और निष्कपटता को देख, कुमार और उसके साथियों के आश्चर्य की सीमा न रही। एक भोली भाली सरल और ग्रामीण कृषक कन्या के ऐसे निर्दोष व्यवहार ने सब पर जादू का काम किया। कुपित होकर बुरा भला कहना तो दूर रहा, किसी ने कन्या के उस कार्य को दोष ही न समझा। राजकुमार इकटक भाव से उसकी ओर देखते हुए मन ही मन उसके चापल्य और भोलेपन की प्रशंसा करने लगे। बालिका भी एक अनूठे भाव से हँसी; फिर विनम्र नेत्रों से एक बार कुमार की ओर देखकर वहां से चली गई।

संध्या हुई। कुमार अपने साथियों के साथ घर लौट रहे थे कि मार्ग में फिर उस कन्या से भेंट हुई। इस समय उसके सिर पर दूध का एक बर्तन था, हाथ में एक रस्सी थी जिसके दोनों सिरों से दो बछड़े बँधे हुए थे। अपनी रखवालिनी की तरह वे भी कूदते फाँदते आनंद से चले जा रहे थे। दोनों बछड़े कभी चलते २ खड़े हो जाते, कभी दौड़ते, कभी आपस में लड़ते और फिर छलांगे मारते हुए बग्घी के घोड़ों की तरह पाँव मिलाकर चलने लगते थे। दोनों मस्त थे। दिन भर खेत पर हरी घास खाई थी; वहाँ से रवाना होते समय अपनी माँ का दूध पिया था और घर पर फिर वही भोजन तैयार था। उन्हें चिन्ता किसी बात की न थी? दोनों सरपट भागने लगे। अरिसिंह के साथियों में से एक ने दूध का बर्तन गिरा देने के अभिप्राय से अपना घोड़ा लड़की के पास दौड़ाया; परंतु वह अश्वारोही के इस अभिप्राय को ताड़ गई और बड़ी ही चालाकी तथा फुर्ती से उसने अपने दोनों बछड़ों को सवार के पाँवों में लिपटा दिया, जिससे वह कौतुक प्रेमी सवार पृथ्वी पर गिरकर धूल चाटने लगा। कन्या पहले की तरह निर्भय होकर फिर चलने लगी मानों उसके लिये कोई ऐसी घटना ही घटित नहीं हुई थी, जिस में कोई नवीनता हो। उसके सिर पर वही बर्तन था, हाथ में वही रस्सी थी, साथ में वही बछड़े थे और उसी मस्तानी चाल से वह विचरण कर रही थी! अब अरिसिंह के आनंद और आश्चर्य का क्या कोई ठिकाना था? उन्हों ने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—"तुम कहाँ रहती हो?" कन्या ने उत्तर में कहा "मैं अपने पिता के साथ रहती हूं; वे चंदाणे कुल के राजपूत हैं। हम निर्धन हैं, महाराज!" इस पर कुमार ने उसके पिता को उन से मिलने के लिये महल में आने को कहा और वहाँ से चले गये।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल नौकरों ने आकर अरिसिंह को सूचना दी कि कल खेत पर जो किसान की कन्या मिली थी, उसका पिता द्वार पर खड़ा है, और आप से भेंट करना चाहता है। यह सुन कर कुमार अरिसिंह ने उसे महल में बुला लिया। वृद्ध ने कुमार को थोड़ा सा झुक कर प्रणाम किया; फिर वहीं उनके पास बैठ कर बात चीत करने लगा। पास वालों को वृद्ध का ऐसा व्यवहार कुछ खटका, परन्तु कुमार ने बड़े प्रेम से उस से वार्तालाप करना शुरू किया, और बात ही बात में उसकी कन्या से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु वृद्ध को अपनी लड़की से बहुत प्रेम था। उसकी सुन्दरता और सुजनता का उसे अभिमान था। अपने घर की शोभा को घर से विलीन करने का साहस उस से न हो सका। इसलिये विवाह करने पर वह राज़ी न हुआ। कुमार ने उसे बहुत समझाया बुझाया, धन का लालच भी दिया, परन्तु वह अपना विचार न बदल सका। इस से कुमार को बड़ी निराशा हुई; परंतु फिर भी बड़े ही आदर से उन्हों ने उस वृद्ध को वहाँ से बिदा किया।

वृद्ध राजपूत घर आया। महल में जो बातचीत अरिसिंह से हुई थी, वह अपनी स्त्री से कह सुनाई। स्त्री ने जब सुना कि पिता ने कन्या के उज्ज्वल भविष्य को ठुकरा दिया है, तो उसे अत्यन्त ही दुःख हुआ, और उसी वक्त अपने पति को फिर राजमहल में जाकर कन्या को विवाह में देने का प्रस्ताव अरिसिंह के सामने रखने को कहा। इस पर वृद्ध राजपूत ने फिर राजकुमार से भेंट की और इस बार विवाह निश्चित कर लिया। इस घटना के कुछ ही महीनों बाद कुमार अरिसिंह का विवाह उक्त किसान की कन्या से होगया।

इसी कन्या के उदर से बालक हंमीर का जन्म हुआ, जिसने बापा के पवित्र वंश को उज्ज्वल और मेवाड़ के विनष्ट गौरव का पुनरुद्धार किया।

हंमीर का जन्म उनकी ननिहाल में हुआ था। अलाउद्दीन की चढ़ाई के समय इनकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी, और अपने नाना के गाँव ऊनवा को छोड़कर चित्तौड़ के दर्शन करने का अवसर इन्हें अभी तक न मिला था। घायल अजयसिंह को चित्तौड़ से विदा करते समय राणा लक्ष्मणसिंह ने कहा था कि तुम्हारे पीछे तुम्हारे बड़े भाई अरिसिंह का पुत्र हंमीर मेवाड़ के सिंहासन पर बैठेगा। अजयसिंह को अपने पिता के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद थी : हंमीर के अधिकारों को वे भूले न थे। इसलिये केलवाड़े में आते ही उन्हों ने बालक हंमीर को अपने पास बुला लिया और उन्हें क्षत्रियाचित शिक्षा देने लगे।

अपने चाचा के साथ रहने से हंमीर को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। कुछ ही दिनों में तलवार, तीर, भाला आदि अस्त्र शस्त्र चलाने में निपुण हो, वे दुश्मनों का दमन करने में उनका हाथ बँटाने लगे। बेचारे अजयसिंह की यहाँ भी बुरी दशा थी। वे चित्तौड़ छोड़ कर केलवाड़े में अपना जीवन बिता रहे थे, किन्तु आराम उन्हें यहाँ भी न था; सुख की नींद यहाँ भी वे न सो सकते थे। मुसलमानों से लगे हाथ यहाँ भी कभी २ झगड़ा हो ही जाता था। साथ ही आस पास के जंगली भीलों से भी इनकी न बनती थी। इन भीलों का अग्रणी मूंजा (बालेचाराजपूत) नामक एक महावीर था। उसकी राणा के साथ घोर शत्रुता थी। दोनों एक दूसरे का ख़ून पीने को

तैयार रहते थे। एक दिन दोनों में द्वन्द्व युद्ध छिड़ गया। राणा ने मूँजा को घायल कर बुरी तरह से धरती पर दे मारा। इस से उसका घोर अपमान हुआ; और उसी दिन से इनकी शत्रुता ने भयंकर रूप धारण कर लिया। वह राणा से बदला लेने की सोचने लगा। राणा के क्षेत्रसिंह और सज्जनसिंह नामक दो पुत्र थे। एक की उम्र पन्द्रह और दूसरे की सोलह वर्ष की थी, परन्तु वे राणा को सहायता देने में असमर्थ थे। उन में उस वीरता का अभाव था जो एक राजपूत का भूषण और उसके लिये गौरव की वस्तु होती है। हंमीर अपने चचेरे भाइयों से उम्र में बड़े न थे; फिर भी उन्हों ने राणा के शत्रु मूँजा का सिर काट लाने का उत्साह दिखाया और प्रतिज्ञा की कि "यदि मूँजा का सिर काट कर ला सका तो देश को लौटूँगा; नहीं तो, यही अंतिम भेंट है।"

यह कह कर हंमीर उसी दिन मूँजा की खोज में निकले और कुछ दिनों के पश्चात् सब ने देखा कि मूँजा के कटे हुए सिर को भाले की नोक पर लटकाये हुए वीरवर हंमीर केलवाड़े के पथरीले मार्गों को पार कर रहे हैं।

अपनी विजय के चिह्न मूँजा के सिर को हँमीर ने अजयसिंह के सामने रख दिया और बोले-"राणा जी, अपने शत्रु का सिर पहचान लीजिये। राणा प्रसन्नता से उछल पड़े। उन्हों ने बड़े प्रेम से अपने भतीजे को गले लगाया, उसकी पीठ थपथपाई, उसका मुँह चूमा और फिर शत्रु के कटे हुए सिर में से रक्त लेकर ललाट पर राज तिलक खींच दिया। इस से अजयसिंह के पुत्रों की राज्य-

प्राप्ति की आशा पर पानी फिर गया। दुखी और निराश होकर दोनों दक्षिण में चले गये। वहाँ सज्जनसिंह ने नया वंश चलाया। आगे चलकर इस वंश में महान् वीर, गो ब्राह्मण के प्रतिपालक एक बालक ने जन्म लिया, जिसने मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित हिन्दू जाति की रक्षा की और श्रीःसम्पन्न मुग़ल राज्य की नींव को ढीली कर अपनी असीम प्रतिभा, अटूट साहस और अश्रान्त उद्योग के बल से समस्त भारतवर्ष को विस्मित और कंपायमान कर दिया। उस महावीर, रणधीर का नाम छत्रपति शिवाजी था।



छत्रपति शिवाजी

छठवां अध्याय

राणा हंमीर

(जीवन प्रवेश और मृत्यु)

अजयसिंह की मृत्यु के पश्चात् हंमीर मेवाड़ के महाराणा हुए। हंमीर राणा तो होगये, किन्तु उन के पास न राज्य था, न धन था और न कोई सहायक ही था। उस समय उनके पास इतनी सेना भी न थी जिसके बल से वे शत्रुओं का सामना रणक्षेत्र में उतर कर करते। साथ ही वे मेवाड़ का उद्धार भी करना चाहते थे। उन्हों ने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि "जीवन रहते हुए, हाथ पैर रहते हुए, हाथ में तलवार रहते हुए, मैं मेवाड़ को पराधीन नहीं देख सकताः उसका उद्धार अवश्य करूँगा।" इसलिये उन्हों ने एक नवीन नीति का आश्रय लिया। खुले मैदान में न लड़-कर वे छिपे ढंग से शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका वध करने लगे। पहाड़ों से उतर कर हंमीर और उनके साथी लूटपाट मचाते और अवसर देखकर फिर छिप जाते थे। फल यह हुआ कि मेवाड़ की तलेटियां श्मशान के समान शून्य और भयंकर हो-गईं। जिन मैदानों पर पहिले हरा २ धान लहलहाता था, वहाँ अब कूड़े करकट पर कुत्ते भौंकने लगे। शत्रुओं के कुटुम्बी अपने अपने घर, खेत, दूकान तथा बाज़ार छोड़ कर भागे। राणा ने चारों और घोषणा करवादी कि जो लोग महाराज हंमीर की अधीनता में रहते तथा उन्हें अपना स्वामी मानते हैं, उन्हें सपरिवार मेवाड़ के पश्चिमीय पहाड़ों में जाकर रहना चाहिये। यदि कोई ऐसा न करेगा तो वह देश का शत्रु समझा जायगा और दंड पावेगा।

फिर क्या था ? मेवाड़ वासियों के दल के दल आकर गिरि कन्दराओं में घर बसाने लगे। चित्तौड़ के तत्कालीन गवर्नर मालदेव ने राणा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, परंतु उसे कुछ भी सफलता न हुई। राणा का अभ्युदय और मालदेव का पतन होता ही गया।

चित्तौड़ से दिल्ली लौटते समय अलाउद्दीन ने अपने पुत्र ख़िज़रखाँ को वहाँ का अधिकारी बनाया था। परंतु वह उसे ठीक न सँभाल सका इसलिये अलाउद्दीन ने उसके स्थान पर जालोर के मालदेव सोनगरे (चौहान राजपूत) को वहाँ का गवर्नर नियत किया। परंतु ख़िज़रखाँ की तरह उसका भी वहाँ टिकना कठिन होगया। हंमीर और उसके साथियों ने उसे भी सुख की नींद न लेने दी। अपने अधिकार को चित्तौड़ पर बनाये रखने का जब कोई दूसरा उपाय मालदेव को न सूझा, तो अंत में उसने अपनी कन्या का विवाह हंमीर के साथ करना तय किया, और इस प्रकार हेल मेल बढ़ाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहा। हंमीर के पास जब इसका संदेशा भेजा गया तो उन्हें और उनके साथियों को बड़ा विस्मय हुआ। इस संग्राम के समय क्यों और किस अभिप्राय से मालदेव अपने शत्रु हंमीर से संबंध जोड़ रहा है ? यह बात कोई न समझ सका। मंत्रियों को इस संबंध में नाना प्रकार के संदेह होने लगे। सब ने मिलकर इस विवाह का विरोध किया, परंतु राणा ने किसी की न सुनी और बोले--"तुम लोग भविष्य का अनुमान करके क्यों चिंता में पड़े हो ? मालदेव कितना ही कूट नीतिज्ञ और धूर्त क्यों न हो, उस से हमारी क्या हानि हो सकती है ? यदि उसने कोई चाल

चली है तो इसका भी मुझे कोई भय नहीं। इस विवाह से इतना तो अवश्य होगा कि इसी बहाने से अपने पूर्वजों की जन्मभूमि के दर्शन तो हो जायँगे। राणा को प्रबल लालसा देखकर फिर कोई कुछ न बोला।

वीर युवक हंमीर दूसरे ही दिन पाँच सौ सवारों को साथ लेकर पितृ-राज्य की ओर चले। दूर से ही चित्तोड़ का गगन-चुम्बी दुर्ग-शिखर दिखाई देने लगा। उसे देख कर ,हंमीर के हृदय में देश प्रेम के भाव उछल कूद मचाने लगे। वे दृढ़ प्रतिज्ञ होकर मन में बोले–'या तो चित्तौड़ के विनष्ट गौरव का पुनरुद्धार करूँगा या पूर्वजों के चरणों से स्पर्श की हुई इस पवित्र भूमि पर प्राण न्योछावर कर संसार से सदा के लिये विदा लूँगा। इस तरह सोचते २ हंमीर दुर्ग पर पहुँचे। वहां मालदेव के पुत्रों ने उनका स्वागत ,किया और बिना किसी प्रकार की धूम धाम के राणा का विवाह कर चले गये। रात्रि के समय जब हंमीर ने अपनी नव परिणीता पत्नी से इस विवाह का कारण पूछा तो उसने कहा–'यह विवाह, विवाह की दृष्टि से नहीं, बल्कि किसी राजनैतिक उद्देश्य को सामने रख कर किया गया है। आप से संबंध स्थापित करने के हेतु मेरे पिता ने यह चाल खेली है; परंतु इस से आप की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई कारण नहीं दीखता कि आप अपने प्रण को छोड़ दें। एक तदबीर मैं भी आप को बतलाती हूँ। वह .यह कि जिस समय आपको जहेज़ दिया जाय, उस समय आप वृद्ध महता जाल को अवश्य मांग लीजिये। भूल न रहे। वह मेरे पिता का अत्यन्त ही चतुर कर्मचारी है। उसकी सहायता से आपका कार्य्य शीघ्र और सुगमता से पूरा हो जायगा। यह सुनकर राणा को बड़ा हर्ष

हुआ। अपनी प्रियतमा की सरलता, सत्यप्रियता, स्पष्ट वादिता और पति भक्ति देख कर वे आनंद-विभोर होगये और उन्हों ने उसे गले से लगा लिया।

नव वधू के परामर्शानुसार हंमीर ने जाल को अपने श्वसुर से माँग लिया। मालदेव जामाता की बात को न टाल सका। पन्द्रह दिन तक हंमीर वहीं रहे; फिर अपनी स्त्री और जाल को लेकर वे केलवाड़े लौट आये। यहां पहुँचकर वीरवर हंमीर चित्तौड़ के उद्धार का सुअवसर देखने लगे।

दो वर्ष बीतने पर हंमीर के एक पुत्र हुआ। इधर राणी और जाल दोनों ही चित्तौड़ की परिस्थिति पर पूरी २ आँखें लगाये हुए थे। यदि कोई छोटी सी बात भी वहाँ होती तो उसकी ख़बर उन्हें मिलजाती थी। जब बालक एक वर्ष का हुआ तो राणी ने अपने पिता को कहला भेजा कि—मैं बालक को कुलदेवी के चरणों में रखने के लिये आना चाहती हूँ, यदि आज्ञा हो तो आऊँ। राणी ने जान बूझ कर यह समय नियत किया था। उसे पता लग गया था कि उसके पिता उस समय पूर्व की ओर सेना लेकर विद्रोहियों का दमन करने गये हैं; और चित्तौड़ में बहुत कम सिपाही रह गये हैं। उन में से भी अधिकांश ऐसे हैं, जो राणी की सहायता करने के लिये तैयार हैं। पिता की अनुपस्थिति में राणी के भाई ने बहिन को चित्तौड़ आने की आज्ञा देदी। वहां पहुँच कर चतुर जाल ने सिपाहियों को अपनी मुट्ठी में कर लिया और सब काम ठीक होजाने पर इसकी सूचना हंमीर को भेज दी। वहाँ देर कहाँ थी? समाचार पाते ही हंमीर दल बल सहित चित्तौड़ जा पहुँचे और उस पर अपना सूर्यांकित झण्डा फहरा दिया।

दो दिन बाद मालदेव आया। अपने राज्य पर राजपूतों का झंडा फिर से उड़ता देख उसके शोक का पारावार न रहा। क्रोध में आकर उसने अपनी सेना को राणा के झंडे को उखाड़ फेंकने का हुक्म दिया। मालदेव की सेना क़िले के भीतर घुसने लगी, परंतु राणा के साथियों ने फाटक पर ही से सब को मार भगाया। राणा की तलवार के सामने मालदेव की सेना तीन तेरह होगई। उसका एक पुत्र मारा गया, और वह स्वयं हार कर, हताश हो वहाँ से चला गया। इस प्रकार हंमीर ने चित्तौड़ पर सीसोदियों का अधिकार स्थापित कर गुहिल वंश के गौरव को वृद्धि की। अलाउद्दीन मर चुका था, और दिल्ली में कोई ऐसी शक्ति न थी, जो हंमीर का सामना करने का साहस करती। इसलिये राणा को अपने राज्य को व्यवस्थित और चित्तौड़ को सुदृढ़ बनाने का सुअवसर मिलगया।

अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के समस्त महल-मन्दिरों को नष्ट कर दिया था, और कई लाख की सम्पत्ति वह वहाँ से दिल्ली ले गया था। अब चित्तौड़ के ख़ज़ाने में न तो वह अतुल धन-सम्पत्ति ही थी, न वहाँ के महल अट्टालिकाओं में पहिले की सी भव्यता। फिर भी बहुत कुछ धन-सम्पत्ति राणा को मालदेव के महलों में मिली और उसके सहारे उन्हों ने चित्तौड़ की मरम्मत करवाना शुरू किया। परंतु एक चीज़ जिस के लिये हंमीर विशेषतः उत्सुक प्रतीत होते थे, उन्हें न मिल सकी। वह थी दुधारी तलवार, जिसे विश्वकर्मा ने बनाया था, और जिसे देकर भवानी ने बापा के गौरव को बढ़ाया था। प्रत्येक शस्त्रागार, प्रत्येक तहख़ाना और प्रत्येक गुप्त स्थान को हंमीर ने छान मारा, परंतु उस तलवार का कहीं भी पता न लगा। हंमीर को विश्वास था कि

चित्तौड़ की कुलदेवी ने अवश्य उस दैविक शस्त्र की मुसलमानों से रक्षा की होगी। इसलिये निराश न होकर वे पहिले से भी अधिक लगन और उत्साह से उसे ढूंढ़ने लगे। एक दिन रात्रि को चित्तौड़ की देवी ने आकर उन से कहा कि 'तलवार दुर्ग की सब से गहरी सुरंग में रक्खी हुई है। बड़े २ भयंकर भूत-प्रेत उसकी रक्षा करते हैं, और तुम्हारे अकेले वहां जाने से तुम्हें मिल सकती है।"

यह सुरंग राजमहल के पास ज़मीन खोदकर बहुत गहरी बनाई गई थी। इसी में घुसकर पद्मिनी और असंख्य राजपूत ललनाओं ने अपने धर्म की रक्षा की थी। उनके बाद इस अंधकार पूर्ण सुरंग में प्रवेश करने का साहस किसी भी व्यक्ति को न हुआ था। घोर अंधकार था। सूर्य की किरणों की भी अन्दर घुसने की गति न थी। हंमीर बेधड़क होकर उस में घुसे। अंधकार की निविड़ता में हाथ से हाथ नहीं सूझता था। पाँव रखते ही फिसल कर पत्थरों से टकराने लगते थे; और इस से भी अधिक वहाँ की दुर्गन्ध पूर्ण वायु मारे डालती थी। चमगीदड़ और अबाबील बीच २ में उड़कर मार्ग में और भी बाधाएँ उपस्थित कर रहे थे। छोटे २ सर्प, बिच्छू, मेंढक, और कँकड़े इधर उधर चक्कर लगा रहे थे, जिनकी नीली २ आँखों की तरफ़ देखने का साहस कठिनाई से होता था। हंमीर का हृदय ज़ोर २ से धड़कने लगा। सिवाय उनकी प्रतिज्ञा के, साहस, वीरता, उत्साह आदि सब ने इस समय उनका साथ छोड़ दिया था। न तो आगे मार्ग दीख पड़ता था, न नीचे पाँव रखने को काफ़ी जगह थी। झुक २ कर चलना पड़ता था। दो क़दम आगे बढ़ते तो किसी वक्त दश क़दम पीछे लौटना पड़ता था। हंमीर किसी तरह गिरते पड़ते,

फिसलते और सँभलते हुए आगे बढ़े। अब रास्ता कुछ चौड़ा हुआ, परंतु हवा वहाँ की भी अत्यंत ही दूषित और ज़हरीली थी। सड़े हुए मांस, चर्बी और धुएं के कारण वहाँ के वायुमंडल में बाहर का सा हलकापन न था। सांस लेना भी कठिन हो रहा था। हंमीर कुछ और आगे गये तो क्या देखते हैं कि तीन महाभयंकर और बदसूरत औरतें हाथ में जलती हुई मशालें लिये खड़ी हैं। उनकी बड़ी बड़ी लाल आँखें, दुर्बल शरीर, मोटे पेट और केश के स्थान पर लंबे २ सर्पों को लपालप जीभ निकालते हुए देख, हंमीर का कलेजा धक सा होगया। मशालों का यह प्रकाश उन्हें अंधकार से भी अधिक भयप्रद और बुरा मालूम होने लगा। हंमीर को आगे आता देखकर डाकिनों में से एक ने ज़ोर से गर्जना की, और बोली–"तू क्या चाहता है? तू कौन है?" हंमीर ने दृढ़ता से उत्तर दिया–"मैं मेवाड़ का मालिक, बापा का वंशज और चित्तौड़ का पुनरुद्धार कर्ता हूँ; मेरा नाम हंमीर है। देवी की आज्ञा से भवानी की दी हुई कृपाण लेने की इच्छा से इधर आया हूँ।" हंमीर को ऐसा कहते सुन सब उपहास-मिश्रित भाव से हँस पड़ीं।

हंमीर ने उनके हँसने की कुछ भी परवाह न की; और उनके सामने जाकर खड़े होगये। डाकिनें अब नाना प्रकार के अभव्य और अश्लील हाव भाव द्वारा उन्हें डराने का उद्योग करने लगीं। वे कभी जीभ निकालतीं, कभी आँखें फाड़तीं और कभी लंबे २ श्वेत दाँत निकालकर, चीख़ मारती हुई ज़ोर २ से कूदती थीं। हंमीर का हृदय द्रुत-गति से धड़क रहा था, परंतु अपनी चेष्टा और आकृति से उन्हों ने अपने धड़कते हुए हृदय का हाल डाकिनों पर प्रकट न होने दिया। वे खड़े २ उनके रंग-ढंग

को देखते रहे। जब वे सब तरह से थक गईं और हंमीर को अपने निश्चय से न डिगा सकीं, उन में से एक ने चिल्लाकर कहा- "हंमीर, तुम्हीं अपने पूर्वजों के योग्य वंशज हो।" इतने में दूसरी ने सुरंग की दीवार के बड़े सूराख़ में से एक रत्न जटित सन्दूक़ निकाला और उस में से एक चमचमाती हुई तलवार निकाल कर हंमीर को देदी और बोली-"ऐ मानवी, यह तेरी तलवार है। तेरी निर्भयता से प्रसन्न होकर इसे हम तुम्हें सौंपती हैं, परंतु भविष्य में फिर कभी इधर आने का साहस मत करना।" तलवार लेकर राणा ख़ुशी २ उस अँधेरी गुफ़ा से बाहर निकल आये।

सन् १३६४ ई० में हंमीर ने इस असार संसार को छोड़ा। हंमीर बड़े ही वीर, साहसी, तेजस्वी और बलवान पुरुष थे। मेवाड़ के अन्यान्य चिरस्मरणीय महावीरों में उनका भी नाम बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है।

सातवां अध्याय

चूंडा का राज्य त्याग

एक दिन महाराणा लाखा अपने मन्त्री, सरदार और प्रतिष्ठित सामंतों के साथ राज दरबार में बैठे हुये थे, कि इतने में राठोर राज्य के मंडोर नगर का एक पुरोहित नारियल लेकर उपस्थित हुआ। राणा ने उसका उचित सम्मान किया, और बैठने को आसन देकर आने का कारण पूछा। पुरोहित ने कहा–"महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र युवराज चूंडा के साथ अपनी कन्या का विवाह ठीक करने की इच्छा से मंडोर के स्वामी ने यह नारियल सेवा में भेजा है।" वीर चूंडा उस समय वहां नहीं थे; इसलिये राणा ने पुरोहित को ठहरने के लिये कहा, और फिर अपनी लम्बी, छाती पर लोटती हुई, श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरते हुये, विनोद-पूर्ण और व्यंगमय भाषा में बोले,—'जवानों के लिये नारियल आते हैं, हम जैसे बूढ़ों के लिये कौन भेजे ?' राणा जी की इस मधुर और महीन हँसी की प्रशंसा करते हुये सब सभासद खिल खिला कर हँस पड़े।

जिस समय इस बात पर सभा में आनंद-हास्य होरहा था, उसी समय युवराज चूंडा भी वहाँ आ उपस्थित हुये। सभा में उठी हुई सब बातें जब उन्हों ने सुनीं तो उनके हृदय में एक गहरी चिन्ता उथल पुथल मचाने लगी। वे सोचने लगे कि पिता ने क्षण भर के लिये भी, चाहे कौतुक ही में क्यों न हो, जिस सम्बन्ध को अपना लिया, वह फिर पुत्र को कैसे स्वीकृत हो

सकता है? थोड़ी देर तक चूंडा जी यही सोचते रहे। अन्त में उन्हों ने कह दिया कि मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं कर सकता।

राणा जी ने चूंडा जी का यह विचार जान कर उन्हें बहुत समझाया; बहुत तरह से अनुरोध किया, डराया और धमकाया, किन्तु वह वीर अपनी प्रतिज्ञा से तिलमात्र भी न डिगा। राणा बड़ी दुविधा में पड़े। एक ओर तो मंडोर राव के अपमान का भय था, और दूसरी ओर पुत्र की भीषण प्रतिज्ञा। भँवर में पड़ी नौका के समान राणा विचार सागर में गोते खाने लगे। राणा का चेहरा क्रोध से लाल होगया; नथुने फड़कने लगे, आंखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं, और रोषपूर्ण स्वर से बोले—'चूंडा, ज़रा ज़बान संभाल कर बोलो। इस भरी सभा में मेरे कथन की अवज्ञा कर के तुम मेरा अपमान कर रहे हो? अपने वृद्ध पिता के प्रति तुम्हारा यह आचरण? धिक्कार है तुम्हारे जीवन को, धिक्कार



सत्यव्रत, त्यागी और पितृ भक्त चूंडा

है तुम्हारी पितृ भक्ति को और धिक्कार है तुम्हारी प्रतिज्ञा को ! ख़ैर, मैं ही इस विवाह को स्वीकार करता हूँ, परंतु तुम प्रतिज्ञा करो कि यदि इस रानी से पुत्र हुआ तो वही राज्य का अधिकारी होगा और तुम उसके सरदार होकर उसकी वश्यता में रहोगे। बोलो, करते हो ऐसी प्रतिज्ञा? चूंडा चुपचाप पिता की बात को सुन रहे थे। जब राणा बोल चुके तब उन्हों ने अपना मुह सभासदों की ओर फेरा, और फिर हाथ उठा कर सब के सामने प्रतिज्ञा की—"पूज्य पिता जी ! मैं एकलिंग जी का नाम लेकर शपथ खाता हूँ कि महाराणा की इस राणी से जो पुत्र होगा, वही राज्याधिकारी होगा। मैं उसके अधीन रहूँगा। उसकी सेवा करूँगा, और अपने समस्त अधिकारों को छोड़कर भाई की भलाई के लिये शत्रुओं का दमन करूँगा।"

होनहार बलवान है। वह होकर ही रहता है। एक अल्पवयस्का बालिका का विवाह वृद्ध राणा लाखा के साथ होगया। इस संयोग से उनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम मोकल रक्खा गया। ज्यों २ मोकल की आयु बढ़ती थी, राणा चिन्ता से घुलते जाते थे। वे मन ही मन सोचते थे कि मेरे पीछे चूँडा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेगा या नहीं। क्या चूँडा इतना उच्च हृदय व्यक्ति है कि अपनी वासनाओं को ठुकरा कर, राज्य प्रलोभन को छोड़ कर, अपने भाई को राज्य सौंप देगा? राज्य का लोभ बड़ा प्रबल होता है। वह बड़ों २ के मन को मैला कर देता है। राज्याधिकार के लिये भाई भाई को, पुत्र पिता को, और मंत्री राजा को मारते देखे गये हैं। कोई कारण नहीं दीखता कि चूँडा भी ऐसा न कर बैठे। अन्त में राणा ने ख़ूब सोच समझ कर यह तय किया कि उस के हाथ से ही मोकल का राज्याभिषेक

होजाना चाहिये; जिस से भविष्य में किसी प्रकार के झगड़े की संभावना ही न रहे।

जब वृद्ध नृपति इस उधेड़ बुन में लगे थे, उन्हें समाचार मिला कि यवन लोगों ने पुण्य तीर्थ गया जी पर चढ़ाई की है, और भारतवर्ष के हिन्दू राजा विधर्मियों का दमन करने के लिये उस ओर अग्रसर हो रहे हैं। राणा जी भी उस ओर जाने की तैयारी करने लगे। सब ठीक ठाक करके वे चूंडा जी से बिना यह कहे कि चित्तौड़ का उत्तराधिकारी कौन होगा बोले—"मैं वृद्ध हूँ, और अधिक जीने की आशा भी नहीं है। इस धर्म युद्ध में प्राण देकर अपनी करणी सुधारने का जितना आनन्द मुझे होरहा है, उतना ही दुःख यह सोचकर भी हो रहा है कि मेरे पीछे मोकल का क्या होगा। हे चूँडा, तुम्हीं कहो उसे कौनसी जागीर देना चाहिये।" तेजस्वी चूंडा ने स्थिर भाव से उत्तर दिया- "चित्तौड़ का राज्य सिंहासन।" पुत्र के उक्त वचनों से राणा को सन्तोष तो हुआ, परन्तु संदेह फिर भी बना ही रहा। चूंडा पिता के इस भाव को ताड़ गये और राज्यतिलक की सामग्री ठीक कर के दूसरे ही दिन मोकल को अभिषिक्त करदिया।

अब राणा निश्चिन्त होगये, और एक विशाल सेना लेकर उन्हों ने गया धाम की ओर प्रस्थान किया। वहां एक विकट युद्ध हुआ, जिस में अपूर्व वीरता दिखलाते हुए राणा भी काम आये। राणा जी वृद्ध थे, फिर भी उन्हों ने पीठ नहीं दिखाई, और अंत समय में धर्म के लिये प्राण देकर स्वर्ग का रास्ता लिया।

इधर धर्म-प्राण चूंडा ने भी बालक राजा मोकल के राज्य-भार को खूब संभाला। मेवाड़ में चारों ओर शान्ति स्थापित हो

गई। देश भर में कहीं भी चोरी, डाका और विद्रोह का नाम नहीं सुनाई देता था। देश श्री सम्पन्न, धनी और सुखी होगया। जहाँ देखो वहाँ चूँडा के सुप्रबन्ध की प्रशंसा होती थी। सब प्रजा उन से प्रसन्न थी। परंतु ऐसे सुराज्य में भी कुछ स्वार्थी और ईर्षालु व्यक्ति गुप्त रूप से चूंडा के विरुद्ध षड़यंत्र रच रहे थे। ऐसे व्यक्तियों में मोकल के मामा रणमल भी एक थे। चूँडा के आदर्श राज्य प्रबन्ध और नियंत्रण को देखकर वे मन ही मन जला करते थे। साथ ही मोकल की माता भी राज्याधिकार को अपने हाथ में लेना चाहती थी। चूँडा का अभ्युदय उसको भी बहुत खलता था–हृदय में काँटे की तरह कसकता था।

एक दिन रणमल चित्तौड़ आये और अकेले में बहिन से बोले–'बहिन, राज्याभिषेक तो मोकल का हुआ है, फिर भी राज्य-सूत्र चूंडा के हाथ में है, यह क्या बात है? तुम चूंडा की घात को नहीं जानतीं। इसलिये उसे राज्य हितैषी समझ रही हो। वास्तव में वह उतना सीधा-सादा और भला नहीं है, जितना कि तुम समझ बैठी हो। वह काला सर्प है, राख में छिपी हुई अग्नि है, हरी घास से ढंका हुआ गहरा कूप है। मौक़ा देख रहा है। अवसर मिलते ही वह गद्दी पर आ बैठेगा, और तुम दूध की मक्खी की तरह बाहर निकाल कर फेंक दी जाओगी। धीरे २ राज्य की समस्त शक्ति उसने अपने अधिकार में कर ली है, और प्रजा में विश्वास पैदा कर अंदर ही अन्दर षड़यन्त्र रच रहा है। वह दिन भी अधिक दूर नहीं है, जब तुम्हें अपने प्यारे मोकल से भी अलग होना पड़ेगा। चूंडा की चालों को देख कर मेरा तो हाल बेहाल हो रहा है। बहिन! मोकल के हिताहित

का मुझे पूरा २ ख़याल है और इसी लिये इच्छा न होने पर भी मुझे तुम्हें इस विचित्र परिस्थिति का ज्ञान कराना पड़ा है। मैं ने अपना कर्त्तव्य पूरा करदिया। अब तुम जानो और तुम्हारा मोकल! हाँ, इतना फिर कहे देता हूँ, कि यदि तुम शीघ्र न चेतीं, तो याद रखना सदैव के लिये सुत और साम्राज्य से तुम्हें हाथ धोना पड़ेगा।"

औषध काम करगई। तीर निशाने पर जाकर लगा। मोकल की भोली भाली माता रणमल के कपट-कौशल को न समझ सकी और उसी दिन से चूँडा से द्वेष भाव रखने और उन्हें देश के बाहर निकालने की सोचने लगी। वह खुले मुँह लोगों से कहने लगी कि चूंडा सरल, उदार एवं त्यागी नहीं, किंतु कपटी और धूर्त है। अपने वाह्य रूप को सुन्दर आवरण देकर वह अपना काम निकालना चाहता है। धीरे २ यह बात चूंडा के कानों तक भी पहुँची। उसे सुनकर उनके हृदय को भारी ठेस लगी। वे जानते थे कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, अपने भाई और राज्य की भलाई के लिये कर रहे हैं। चूंडा जी मन ही मन सोचने लगे—'ऐसी सरलता, उदारता और निस्पृहता का यह बदला? संसार! तू बड़ा ही कृतघ्न है। तेरी कुटिलता देखकर आज मेरा हृदय हिला जाता है। लाख रोकने का प्रयत्न करने पर भी धड़कन बनी हुई है। मैं ने अपने अधिकारों को ठुकरा दिया। उसका यह फल मिला!' फिर चूंडा जी को ख़याल हुआ कि शायद रानी को कुछ कष्ट होगा, इसलिये वह ऐसा कहती हैं। वे रानी के पास गये; परंतु रानी ने एक बार उनकी ओर उपेक्षा से दृष्टिपात कर फिर मुँह दूसरी ओर फेर

लिया। चूंडा जी रानी के इस व्यवहार को अधिक न सह सके, और नम्रता पूर्वक बोले—"माता जी, आपकी समझ में फेर है। यदि मेरी इच्छा मेवाड़ का राज्य हड़प करने की होती तो मैं पहिले ही उसे क्यों छोड़ता। अच्छा, इस से मेरी कोई हानि नहीं; न कुछ पछतावा ही है। हाँ, दुःख है तो केवल इस बात का कि आज मुझे अपनी जन्म भूमि को छोड़कर जाना पड़ रहा है। माता! भली भाँति राज्य का कार्य चलाना, और मोकल के हिताहित का पूरा ध्यान रखना। अब केवल आप ही के ऊपर राज्य का भार है। प्रजा को आप ही का सहारा है। दीन दुखियों को आप ही का आश्रय है। देखो! सीसौदिया कुल का गौरव नष्ट न हो जाय। उस पर कहीं कलंक न लग जाय। यदि देश पर कोई विपत्ति आजाय तो मुझे अवश्य ख़बर देना। मैं ने पिता को जो वचन दिया है, उसका देश में, विदेश में, सुख में, दुःख में, चाहे कैसी ही विषम परिस्थिति में क्यों न होऊँ, अवश्य पालन करूँगा। उदार हृदय चूंडा यह कहकर मातृ भूमि को छोड़कर अपने भाई अज्जा और पाँच सौ सवारों को साथ लेकर मांडू के सुल्तान के पास चले गये। सुल्तान ने उनका बड़ा सम्मान किया, और कई परगने ज़ागीर में देकर उन के गौरव को बढ़ाया।

इस प्रकार राज्य सम्मान को ठुकरा कर सत्यव्रत चूंडा ने अपने प्रण की रक्षा की। अपने अधिकारों को छोड़कर उन्हें दूसरों की अधीनता में रहना पड़ा। परंतु उन्हों ने इसी में सुख और अपना गौरव समझा। मांडू में रहते हुए उन्हों ने कभी ऐसा काम न किया जिस से मेवाड़ को हानि पहुँचे। राणा कुंभा के समय में मेवाड़ के विरुद्ध तलवार उठाने का अवसर

भी आया, परंतु उन्हों ने यह कहकर मना कर दिया कि महाराणा और मेवाड़ के साथ युद्ध कर के मैं अपने आपको धर्म-भ्रष्ट नहीं करना चाहता। चूंडा के वीरत्व, स्वार्थ त्याग, सहिष्णुता और उदारता की जितनी ही प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

आठवां अध्याय

महाराणा कुम्भा

(पूर्वार्ध)

चूंडा जी के मेवाड़ छोड़ कर चले जाने पर वहाँ का सब काम रणमल की देख भाल में होने लगा। मोकल तो केवल नाम मात्र को राजा थे। वास्तव में सब काम रणमल ही करते थे। परन्तु मँडोवर की गद्दी के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा हो जाने से उन्हें, इच्छा के विरुद्ध, कुछ दिन के लिये मेवाड़ छोड़ कर उधर जाना पड़ा। इसी बीच में दो दासी पुत्रों ने मोकल की हत्या कर डाली। इन दोनों हत्यारों के नाम चाचा और मेरा थे। दोनों राणा के चचेरे भाई थे।

बात यह थी कि मोकल के दादा राणा क्षेत्रसिंह के कई रानियाँ थीं। उन में से एक बढ़ई की कन्या थी। राणा ने उसके अनुपम सौन्दर्य को देख कर उसे महल में रख लिया था। इस स्त्री से चाचा और मेरा का जन्म हुआ। जब ये दोनों भाई बड़े हुए, तब राणा ने इन्हें दरबार में ऊँचा पद देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। राणा की मृत्यु के पश्चात् भी राज्य में इन का अच्छा सम्मान होता रहा, परन्तु एक नीच कुल की माता के पुत्रों का इतना अभ्युदय देखकर दूसरे दरबारी कुढ़ते थे। वे समझते थे कि चाचा और मेरा को उनकी योग्यता से कई गुना अधिक पद दिया गया है। इसलिये सब ने मिलकर मंत्रणा की और यह तय किया कि किसी

तरह इन दोनों भाइयों को पदच्युत कर नीचा दिखाना चाहिये। एक दिन राणा मोकल अपने पहाड़ी विद्रोहियों का दमन करने के लिये चित्तौड़ से निकले, और लौटते समय मदेरिया नामक गाँव में पड़ाव डाला। वहाँ एक वृक्ष को देखकर राणा ने अपने सामन्तों से उसका नाम पूछा। पास ही में एक हाड़ा नामी सरदार बैठा हुआ था। उसने कहा–मुझे तो मालूम नहीं। इन दोनों भाइयों में से किसी एक से पूछिये ? ये अवश्य बता देंगे। राणा सरदार के इस गूढ़ मर्म को न समझ सके और बोले–काका, इस वृक्ष का क्या नाम है ? चाचा और मेरा राणा के इस प्रश्न को सुन कर जल भुन कर ख़ाक हो गये। उन्हों ने समझा कि हमारी माता बढ़ई जाति की थी, इस कारण ही हमारा अपमान करने को यह प्रश्न हम से किया गया है। उस वक्त तो वे कुछ न बोले, परन्तु उसी दिन से वे राणा के जीवन का अन्त करने की सोचने लगे। एक दिन जब राणा भगवान् का भजन कर रहे थे, अचानक इन दोनों भाइयों ने उनपर दो हाथ साफ़ किये और वहाँ से भाग निकले। राणा का वध कर वे चित्तौड़ लेने की आशा से उस तरफ़ भागे; परन्तु उस समय दुर्ग बन्द था, जिस से वे भीतर प्रवेश न कर सके। इस कारण मदेरिया के निकट एक पाई कोटड़ा नामक गाँव में जा छिपे।

मोकल के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र कुंभा जी मेवाड़ के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। गद्दी पर बैठते ही सब से पहला काम जो कुँभा जी ने किया, वह यह था कि उन्हों ने एक सेना तैयार कर चाचा और मेरा से बदला लेने के लिये भेजी। रणमल ने जब अपने भानजे की हत्या का समाचार सुना तो वे भी दुष्टों को दंड देने की प्रतिज्ञा कर अपने पुत्र और कुछ राठौर वीरों को साथ ले राणा की

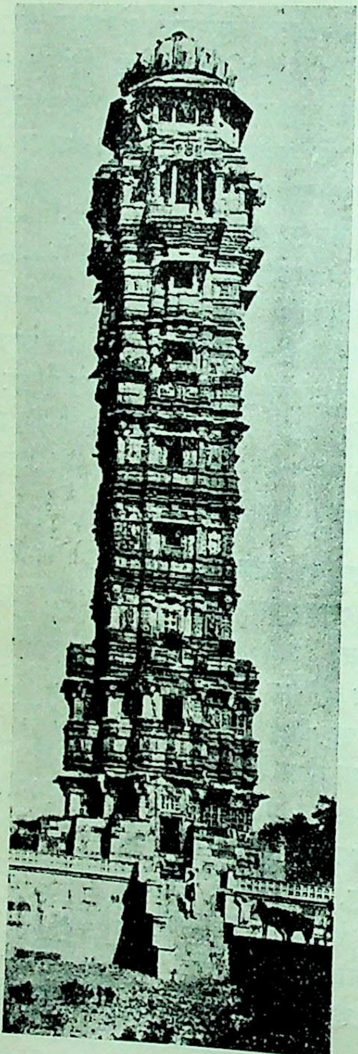
सहायता करने को मंडोर से मेवाड़ में आये। कुल मिला कर ५०० सवारों को साथ ले रणमल ने पाई कोटड़ा के पहाड़ों में स्थित, चाचा और मेरा के निवास स्थान को घेर लिया। दोनों भाई उनके कुछ साथियों और कुटुम्बियों के साथ पर्वत श्रृङ्ग पर बने हुए एक सुदृढ़ दुर्ग में रहते थे। रास्ता बड़ा ही ऊबड़ खाबड़ और पथरीला था, और कई नदी नालों को पार कर नियत स्थान पर पहुँचना पड़ता था। नाना प्रकार की आपत्तियों और बाधाओं का सामना करते हुए, अन्त में सब दुर्ग तक पहुँच गये। रात्रि का समय था। चाचा और मेरा प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए ख़र्राटे ले रहे थे। राणा के सिपाहियों में से कोई तो दुर्ग पर चढ़ गया था, और कोई चढ़ रहा था, कि इतने में सब से आगे चढ़ने वाले भाट का पाँव फिसल जाने से वह गिर पड़ा। उसके गिरते ही उसका ढोल घोर शब्द से बज उठा। ढोल की आवाज़ सुनते ही चाचा का कलेजा दहल गया और अपनी प्राण रक्षा के लिये एक तलवार लेकर वह बाहर निकला; परन्तु रणमल के साथियों ने उसके टुकड़े २ कर डाले। भाई की दुर्दशा देख, मेरा भागने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन भाग न सका। सैनिकों ने पकड़ कर उसे भी तलवार के घाट उतारा। दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों दुष्टों के शव बाँध कर पहाड़ की चोटी पर से नीचे फेंक दिये गये, और वे एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी चट्टान से टकराते हुए पहाड़ की तलेटी में आ गिरे। चाचा और मेरा के कुछ पक्षपाती तो वहीं मारे गये, कुछ ने भाग कर अपने प्राणों की रक्षा की। भागने वालों में चाचा का पुत्र एक्का और महपा नामक सरदार भी थे। इन दोनों ने भाग कर मांडू (मालवा) के सुल्तान की शरण ली।

चाचा और मेरा के मारे जाने की जहाँ राणा को प्रसन्नता थी, वहां उन्हें दुःख भी इस बात का था कि महपा को उचित दंड न मिल सका। इसलिये उन्हों ने एक दिन रणमल से कहा कि चाचा और मेरा को तो उनके कर्मों का फल मिल गया, किन्तु महपा अभी तक जीवित है। अतः उसे भी किसी न किसी तरह पकड़ कर दंड देना चाहिए। परन्तु महपा इस समय मांडू के सुल्तान का आश्रित था, और उस से छेड़ छाड़ करना मानो उस के आश्रय दाता से झगड़ा मोल लेना था। अन्य कोई साधन अपनी इच्छा पूर्ति का न देख राणा ने मांडू के सुल्तान महमूद को इस आशय पर पत्र लिख भेजा कि हमारे अपराधी महपा को हमें दे दो, नहीं तो हम सेना लेकर आते हैं। पत्र के उत्तर में सुलतान ने लिख भेजा कि मैं अपने शरणागत को किसी भी तरह नहीं छोड़ सकता। यह बात मेरी शान और मर्यादा के ख़िलाफ़ है। यदि आप की इच्छा युद्ध करने ही की हो तो मैं भी उस के लिये तैयार बैठा हूँ।

पत्र का ऐसा उत्तर पाकर राणा क्रोध से झल्ला उठे। एक विशाल सेना लेकर उन्हों ने मांडू पर चढ़ाई की। सुल्तान भी अपनी सेना लेकर मैदान में आ डटा। कहते हैं, इस समय महाराणा की सेना में एक लाख सवार और १४०० हाथी थे। चित्तौड़ और मंदसोर के बीच में सारंगपुर नामक स्थान पर दोनों सेनाओं की मुठ भेड़ हुई। तुमुल युद्ध हुआ। सुल्तान की सेना रणविशारद राजपूतों के सामने न टिक सकी और रणभूमि से भाग निकली। सेना के साथ सुलतान भी भागा, और भाग कर मांडू के दुर्ग में जा छिपा। राजपूतों ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। इसलिये तंग आकर उसने महपा से कह दिया कि

मैं अब तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। सुल्तान को इस प्रकार सहायता से हाथ खींचते देख महपा किं कर्तव्य विमूढ़ हो-गया। प्राण रक्षा का और कोई उपाय न देख, वह एक घोड़े पर सवार हो दुर्ग की दीवार से नीचे कूद पड़ा। घोड़ा तो लंगड़ा हो गया, परंतु उस के कोई चोट न आई। इसी समय एक्का भी भागा। वहाँ से दोनों गुजरात की ओर चले गये। राणा सुल्तान को पकड़ कर चित्तौड़ लाये, और छः माह तक नज़र क़ैद रख उसे छोड़ दिया। महपा और एक्का किसी न किसी तरह गुजरात तक पहुँच तो गये, परन्तु कुंभा जी के डर से वहां के सुल्तान ने उन्हें शरण न दी। इस से हताश होकर वे फिर मेवाड़ में लौट आये, और राणा के चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगे। विशाल हृदय राणा ने अभयदान देकर उन्हें फिर अपनी सेवा में रख लिया।

मालवा की इस विजय को अक्षय रखने के लिये कुंभा जी ने चित्तौड़ में एक कीर्ति स्तम्भ बनवाया, जो आज भी अपना मस्तक गौरव के साथ ऊँचा उठाये हुए अपने बनाने वालों की विजय श्री और वैभव का परिचय संसार को दे रहा है। पर्वत शृंग पर बना हुआ यह अभ्रभेदी विजय स्तंभ दूर से अत्यन्त ही सुन्दर और भव्य मालूम होता है। वह एक सौ तीस फीट ऊँचा, नीचे से तीस फीट चौड़ा, और नौ मंज़िल ऊँचा है। भीतर चढ़ने के लिये १५७ सीढ़ियाँ हैं, और प्रकाश भी काफ़ी पहुँचता है। जहाँ तहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की मूर्तियाँ उत्तम कला कौशल के साथ खुदी हुई हैं, जो देखने वालों पर छाया चित्र की तरह प्रभाव डालती हैं; और १५७ सीढ़ियों की लम्बी यात्रा देखते ही देखते समाप्त होजाती है। अधिकाँश मूर्तियों को मुसलमानों ने



कीर्ति–स्तम्भ

तोड़ फोड़ कर विकृत कर रक्खा है, परन्तु उन से राणा कुम्भा के समय की वास्तु कला और मूर्ति कला की उन्नति का अच्छा परिचय फिर भी मिल ही जाता है। दिल्ली का क़ुतुबमीनार इस से अधिक ऊँचा है, परन्तु बनावट में वह इस से गिरा हुआ है। इस की सी भव्यता और विशदता का अल्पांश भी उस में नहीं है। कुंभा जी ने ९० लाख रुपये ख़र्च कर इसे तैयार करवाया था, और सन् १४०२ में इस की पूर्ति और प्रतिष्ठा हुई थी। स्तम्भ के सब से ऊपर की छत्री विद्युत् प्रहार से गिर पड़ी थी, जिसे महाराणा स्वरूपसिंह जी ने फिर से बनवाया। वर्तमान महाराणा साहब ने भी

इस की बहुत कुछ मरम्मत करवाई है।

मालवा की विजय के बाद रणमल ने फिर कभी मरुभूमि मारवाड़ की तरफ मुंह न मोड़ा। मेवाड़ में ही उन्हों ने अपना आसन जमाया। चतुर, कुशाग्र बुद्धि और उद्योगी तो वे थे ही। धीरे २ सब राजकाज उन्हों ने अपने हाथ में ले लिया, और राज्य के सब महकमों में राठौर ही राठौर भर दिये। न्यायालयों में, सेना में, कर उगाहने में, पुलिस में, जहाँ देखो वहाँ राठौर ही राठौर नज़र आते थे। सीसोदियों का हाथ धीरे २ राजकीय क्षेत्र से हटने लगा। किसी उच्च पद पर कोई सीसोदिया न रहा। किसी काम में उनकी सम्मति नहीं ली जाती थी। इस से उन में अशान्ति फैल गई। उन्हों ने रणमल के विरुद्ध राणा के कान भरने शरू किये। इसकी ख़बर चूंडा जी को भी मँडोवर भेजी गई। वे भी मेवाड़ को संकट में देख, उस के त्राण के लिये आ पहुँचे। सब ने मिल कर एक षड़यन्त्र रचा। भारमली नामक एक दासी से रणमल का प्रेम था। एक रात्रि को संकेत के अनुसार भारमली ने वृद्ध रणमल को खूब मद्य पिला, नशे में चूर कर कसकर पलंग से बाँध दिया। तत्पश्चात् महपा एक्का आदि व्यक्तियों ने उनपर प्रहार किया। चोट लगने से रणमल का नशा हवा होगया। वे खाट सहित उठ खड़े हुए। हथियार तो वहां कोई था नहीं, इस से पास ही पड़े हुए एक पीतल के लोटे को लेकर उन्हों ने आक्रमण कारियों का सामना किया, और तीन चार को मारने के बाद स्वयं भी मारे गये। कहा जाता है कि चारपाई की लम्बाई अधिक होने से रणमल के पैर ज़मीन पर न टिक सके, इसी से वे अन्त में गिर पड़े। उसी समय से मारवाड़ में पाँवों को चारपाई से बाहर निकलते रखकर सोने की परंपरा चल पड़ी है।

जिस समय महल में यह घटना हुई, रणमल के पुत्र जोधा जी वहाँ न थे। वे गढ़ के नीचे चित्तौड़ नगर में थे। रणमल की मृत्यु का हल्ला सुन कर उनको सचेत करने के हेतु एक नक्कारची दुर्ग की दीवार पर चढ़ गया, और शहनाई बजा कर ज़ोर २ से चिल्लाया—

चूंडा अजगल आविया, मांडू हूं धक आग।
जोधा रणमल मारिया, भाग सके तो भाग॥

शहनाई के स्वर को पहचानते ही जोधा जी मय अपने ७०० साथियों के वहाँ से नौ दो ग्यारह हुए। चूंडा जी ने अपने १००० सवारों के साथ उनका पीछा किया। कपासन के पास राठौरों और सीसोदियों में युद्ध हुआ। जोधा जी के दो सौ और चूंडा जी के चार सौ योद्धा काम आये, किन्तु जोधा जी जैसे तैसे मारवाड़ की सीमा तक पहुँच गये, चूंडा जी ने वहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा। जोधा जी तो हाथ न आये, पर मारवाड़ पर कुंभा जी का कब्ज़ा हो गया। अक्का सीसोदिया को मंडोर का गवर्नर बनाकर चूंडा जी लौट आये।

नवां अध्याय

महाराणा कुंभा

(उत्तरार्ध)

रणमल की मृत्यु के पश्चात् कुंभा जी स्वतन्त्र होकर शासन सूत्र सँभालने लगे, और थोड़े ही दिनों में मेवाड़ राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। धीरे २ महाराणा ने नागोर, अजमेर, मँडलगढ़, हाड़ोती, आमेर, रणथंभोर आदि कई स्थानों को जीत कर अपनी अधीनता में कर लिया, और गुजरात तथा दिल्ली के राज्यों के कुछ भाग छीन कर मेवाड़ को एक विशाल साम्राज्य का रूप दिया। प्रजा सुखी और श्रीसम्पन्न होकर राणा का



वीर केसरी महाराणा कुंभा

यशोगान करने लगी। मेवाड़ का गौरव अब दोपहरी के सूर्य के समान जगमगाने लगा। चारों तरफ़ से शत्रुओं का दमन करके राणा ने अपने राज्य की रक्षा के लिये स्थान २ पर क़िले बनवाना शुरू किया, क्योंकि शत्रुओं के राज्यों को जीत कर अपने राज्य में मिलाने को जितना महत्वपूर्ण कार्य कुंभा जो समझते थे, उतना ही महत्वपूर्ण काम दूसरों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने को भी समझते थे। वे तैमूर और नादिरशाह की तरह लुटेरे न थे, जो लूट पाट मचाकर शत्रुओं की ग़रीब प्रजा को तलवार के घाट उतारते। राज्य विस्तार के लोभ से अन्धे होकर तलवार चलाना वे पसन्द न करते थे। वे एक शक्तिशाली, प्रजा-प्रिय और न्याय परायण नरेश थे। युद्ध से उत्पन्न आनन्द ही के लिये युद्ध करना उन्हें रुचिकर न था; किन्तु जब देखते कि अन्य उपाय से उद्देश्य पूर्ति न होगी तो विवश हो युद्ध की आज्ञा दे देते थे। कई युद्ध कर उन्हों ने शत्रुओं के दाँत खट्टे किये, परन्तु इसलिये नहीं कि वे भी एक महान् शक्तिशाली राजा समझे जायँ; बल्कि इसलिये कि उनकी तलवार के भय से शत्रु उनकी प्रजा पर अत्याचार न करे, और चारों ओर शान्ति का साम्राज्य हो जाय। हाँ, स्वधर्म और स्वजाति के विरोधियों को वे बिना सोचे समझे दंड देते थे, और दिल खोल कर देते थे॥

इसके बाद वीरवर कुंभा की जीवनी एक दुःख भरी कहानी है। कहते हैं, एक दिन महाराणा एकलिंग जी के दर्शनार्थ कैलाशपुरी गये। वहाँ मन्दिर के द्वार के सामने उन्हों ने एक गाय को ज़ोर ज़ोर से रांभते तथा हर्ष से नाचते देखा। राणा को इस से बड़ा आश्चर्य हुआ। उस वक्त तो वे कुछ न बोले, परन्तु कुंभलगढ़ में पहुँचते ही भरी सभा में दरबारियों के सामने सहसा अपना

हाथ ऊपर उठा कर बार बार 'कामधेनु तंडव करिय' कहने लगे। राणा के अभिप्राय को कोई दरबारी न समझ सका, सब हैरान थे कि बात क्या है। दो चार दिन तक जब राणा उक्त बात को दुहराते रहे तो दरबारियों को बड़ी चिन्ता हुई, और सब के सब सोचने लगे कि हो न हो, राणा का दिमाग़ बिगड़ गया है; परन्तु किसी की हिम्मत राणा के सामने आकर प्रश्न करने की न हुई। अन्त में दरबारियों ने यह काम कुँवर रायमल को सौंपा। रायमल पहिले तो राज़ी न हुए, परन्तु राणा की दिन २ बिगड़ती हुई अवस्था देख कर वे साहस कर उनके पास चले गए और पूछा, 'अन्न दाता, कामधेनु तन्डव करिय के बार बार दुहराने से आपका क्या अभिप्राय है ? आप चाहते क्या हैं ?' रायमल के प्रश्न से राणा को क्रोध आगया और उन्हों ने उसी वक्त उसे देश बाहिर निकलने का हुक्म दिया। अच्छा करते हुए बुरा हुआ। निर्दोष रायमल को मेवाड़ छोड़ना पड़ा। वे वहाँ से ईडर चले गए। उस दिन के बाद किसी ने राणा के सामने ज़बान तक न हिलाई।

उपरोक्त घटना के कुछ ही दिन पहिले राणा ने एक ज्योतिषी की इस भविष्य वाणी पर कि–'आप एक चारण द्वारा मारे जायेंगे' सब चारणों को अपने राज्य के बाहिर निकाल कर उनकी जागीरों को ज़ब्त करने का हुक्म दिया था। राणा के उमरावों में से एक सरदार का यह नियम था कि वह चारण का मुंह देखे बिना भोजन नहीं करता था। इस हेतु छिपे वेश में उसने एक चारण को यह कह कर कि यह राजपूत है, अपने पास रख लिया था। उसने (चारण ने) एक दिन सरदार से कहा कि यदि मुझे दरबार में ले चलो तो मैं महाराणा का 'कामधेनु तंडव करिय' कहना छुड़ा दूँ। सरदार इस बात पर राज़ी होगया। दूसरे

दिन वह उस छद्म वेषधारी चारण को राणा के सम्मुख लेगया। वहाँ उसका परिचय सुनते समय राणा ने फिर वही शब्द दुहराये। इस पर चारण ने यह छप्पय कहा—

जद धर पर जोवती दीठ नागोर धरन्ती।
गायत्री संग्रहण देख मन मांहिं डरन्ती।
सुरकोटी तेतीस आण नीरन्ता चारो
नहिं चरन्त पीवन्त मनह करती हँकारो॥
कुम्भेण राण हणिया कलम आजस उर डर उतरिय।
तिण दीह द्वार शंकर तणौं काम धेनु तंडव करिय॥

भावार्थ—नागोर में गोहत्या होती देख गायत्री (कामधेनु) मन में बहुत डरती थी; तेतीस करोड़ देवता उस के लिये घास और पानी लाते थे, परन्तु वह न चरती और न पीती थी। जब राणा कुंभा ने मुसलमानों को मार कर (नागौर को जीतकर) गौओं की रक्षा की, तभी से गौ भी शंकर के द्वार पर निर्भयता के साथ सहर्ष तांडव (नृत्य) करती है।

चारण ने इस छप्पय को अत्यन्त ही अनूठे और प्रभावशाली ढंग से उच्चरित किया था। राणा सहृदय और काव्य प्रेमी तो थे ही, छप्पय के एक २ शब्द का उन पर असर पड़ा। वे कविता को दत्तचित्त होकर सुनते रहे और जब चारण कह चुका, तब बोले–'तू राजपूत नहीं, चारण प्रतीत होता है; परन्तु मैं तुझ से प्रसन्न हूँ। मांग क्या मांगता है?' चारण ने उत्तर दिया–'हाँ, मैं चारण हूँ। आपने बिना कारण हम लोगों की जागीरें छीनकर हमें देश निकाला दे दिया है। इसलिये आज मैं यह प्रार्थना करने

आया हूँ, कि कृपा करके हमारी जागीरें वापस बहाल कर मेवाड़ में आने की आज्ञा दीजिये। महाराणा ने उसकी बात स्वीकार करली और सब चारणों को देश में लौट आने की आज्ञा दे दी।

उस दिन से राणा ने उक्त शब्दों को तो दुहराना छोड़ दिया, परन्तु उनका उन्माद रोग बना ही रहा। इसी अवस्था में वे एक दिन कुंभलगढ़ में मामा देव के कुण्ड के पास बैठे हुए उसकी शोभा निहार रहे थे, कि पीछे से आकर उनके राज्य लोभी पुत्र उदय सिंह ने कटार भोंक कर उनकी हत्या कर डाली। मेवाड़ के इतिहास में उदयसिंह आज भी 'ऊदा हत्यारा' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु जिस अभिप्राय से उदयसिंह ने अपने पिता की हत्या का पाप सिर पर लिया था, उस में उसे सफलता न हुई। वह मुश्किल से पाँच वर्ष तक मेवाड़ के राज्य का उपभोग कर सका होगा कि उस के बड़े भाई रायमल ने उसे गद्दी से उतार कर राज्य बाहर किया, और स्वयं मेवाड़ का मालिक बन बैठा।

कुम्भा जी एक वीर, पराक्रमी, प्रतिभावान् और आदर्श राजा तो थे ही, परन्तु साथ ही वे शिल्प शास्त्र के भी अद्वितीय ज्ञाता थे। मेवाड़ में छोटे बड़े कुल मिला कर ८४ क़िले हैं। उनमें ३२ कुम्भा जी के बनवाये हुए हैं। इन में कुम्भलगढ़ का क़िला अत्यन्त ही मज़बूत और सुरक्षित है। मेवाड़ में चित्तौड़ को छोड़ कर ऐसा सुदृढ़ और सुन्दर क़िला दूसरा नहीं है। इन क़िलों के अतिरिक्त कई मन्दिर भी कुम्भा जी के बनवाये हुए आज तक विद्यमान हैं। आबू में कुम्भश्याम का मन्दिर, ऋषभ देव का मंदिर, राणपुर का मन्दिर आदि इन्हीं के बनवाये हुए हैं।

राणा जी काव्य मर्मज्ञ और कला प्रेमी भी पूरे थे। संगीत

10

शास्त्र में आपकी अद्भुत गति थी। उनकी वाणी की मधुरता, स्वरलहरी और संगीत की निपुणता को देख बड़े २ संगीतज्ञ चकित हो जाते थे। गाना सुनाने वाले लोग गाना सीख कर घर आते थे। महाराणा जैसी रसिकता बाद के किसी भी भारतीय शासन कर्ता में नहीं देखी गई। अकबर में इसका कुछ २ आभास मिलता था। संगीत शास्त्र पर आपने संगीतराज, संगीत मीमांसा आदि कई ग्रन्थ लिखे और दूसरों से भी, सहायता तथा प्रोत्साहन देकर, लिखवाये। भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति गीत गोविन्द पर रसिक प्रिया नाम की टीका आप ही की लिखी हुई है। महाराणा ने कुछ नाटकों की रचना भी की थी। शिल्प शास्त्र से संबन्ध रखने वाली कई पुस्तकें भी महाराणा जी के आश्रय और अनुरोध से लिखी गई थीं।

महाराणा कुंभा वीर और विद्वान् थे। कवि और संगीतज्ञ थे। प्रसिद्ध नाट्यकार और शिल्प प्रेमी थे। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और हिन्दू शास्त्रों के उपासक थे। वे धीर थे, गम्भीर थे, साहसी थे। बुद्धि पूछती है, वे क्या नहीं थे ?

दसवां अध्याय

वीर पृथ्वीराज

राणा रायमल के तेरह पुत्र थे। उन में से पृथ्वीराज, संग्रामसिंह और जयमल मेवाड़ के इतिहास में अधिक प्रसिद्ध हैं। राणा का अपने सभी पुत्रों पर समान प्रेम था, किन्तु पृथ्वीराज की वीरता से मुग्ध प्रजा उन्हीं को अधिक चाहती थी। संग्रामसिंह, जो राणा साँगा के नाम से प्रख्यात हैं, विचारशील, साहसी, वीर और गंभीर थे। पृथ्वीराज वीर अवश्य थे, परन्तु उन में अपने छोटे भाई के उक्त गुणों का अभाव था। वे स्वभाव के तेज़, युद्ध प्रिय, निर्भय और वीर पुरुष थे। कोई काम उनके लिये दुष्कर नहीं था। तलवार म्यान में रख कर घर पर आलसियों की तरह पड़ा रहना उन्हें बहुत अखरता था। अपनी वीरता के घमंड में आकर वे कभी २ कहा करते थे कि मेवाड़ का राज्य विधाता ने मेरे ही भाग्य में लिखा है। सब से बड़े होने के कारण गद्दी के अधिकारी भी वास्तव में वही थे, परंतु साँगा और जयमल की इच्छा भी राज्य सुख भोगने की थी। इसलिये तीनों भाइयों में परस्पर विरोध रहता था।

एक दिन तीनों भाई जब अपने चाचा सूरजमल के पास बैठे हुए गद्दी के सम्बन्ध में तर्क–वितर्क कर रहे थे, तब साँगा ने कहा–'भाई पृथ्वीराज, मैं मानता हूँ कि तुम मुझ से अधिक

वीर और सैन्य संचालन में चतुर हो, किन्तु राज्य भार संभालने में मैं तुम से अधिक दक्ष हूँ। इसलिये मेवाड़ का राज्य मुझे मिलेगा, तुम्हें नहीं। यदि तुम चाहो तो इसका निर्णय भीमल गाँव की देवी के मन्दिर की पुजारिन से, जो देवी का अवतार मानी जाती है, करा सकते हो। साँगा की यह राय सब ने मान ली। सब के सब देवी के मन्दिर पहुँचे। जिस समय ये लोग वहाँ गये, पुजारिन मन्दिर में उपस्थित न थी। पृथ्वीराज और जयमल ने मन्दिर में सब से पहिले प्रवेश किया। इसलिये वे दोनों बिछौने पर बैठे। साँगा बाद में आये थे। इस कारण वे पास ही में पड़े हुये बाघ चर्म पर बैठ गये। उसी पर घुटने टेक कर सूरजमल भी बैठे। थोड़ी देर के बाद पुजारिन भी आ गई। सब के वहाँ आने का कारण पूछ कर उसने अपना मुँह साँगा की ओर फेरा और बोली—'बाघ चर्म ही गद्दी का लक्षण है। इसलिये मेवाड़ के स्वामी साँगा ही होंगे। चाचा सूरजमल को भी राज्य अंश प्राप्त होगा, और पृथ्वीराज तथा जयमल दूसरों के हाथों मारे जायेंगे।' बस फिर क्या था? यह बात सुनते ही पृथ्वीराज और जयमल तलवार लेकर साँगा की तरफ़ झपटे। यह देख सूरजमल बीच में आ खड़े हुए, और साँगा को वहाँ से हटाकर दोनों भाइयों के प्रहार अपने शरीर पर झेलने लगे। साँगा ने भी अपनी तलवार निकाल ली। एक तरफ़ पृथ्वीराज और जयमल तथा दूसरी तरफ़ सूरजमल और साँगा थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा। अन्त में पृथ्वीराज और सूरजमल घायल और रक्त से तर बतर हो कर वहीं गिर पड़े। इस संघर्ष में साँगा के पाँच घाव लगे और उनकी एक आँख भी जाती रही।

अपने सहायक सूरजमल को घायल देख, साँगा वहाँ से

भाग निकले। जयमल ने उनका पीछा किया। सांगा की बुरी दशा देख कर सेवंत्री गाँव के एक बीदा नामक राठौर राजपूत ने उन्हें आश्रय दिया। घोड़े से उतर कर साँगा अपने घावों में पट्टियाँ बँधवा ही रहे थे कि इतने में जयमल भी आ पहुँचा और साँगा को माँगने लगा। वीर राठौर ने अपनी शरण में आये हुए सांगा को देना स्वीकार न किया और बोला-"सांगा मेरे पेट में है। यदि हिम्मत हो तो निकाल लो" इस पर दोनों में युद्ध हुआ। चोट पर चोट और प्रहार पर प्रहार होने लगे। अन्त में बीदा लड़ता हुआ अपने कई साथियों सहित वहीं पर मारा गया। इसी बीच में सांगा वहां से निकल भागे, और जयमल को निराश होकर घर लौटना पड़ा। राणा रायमल ने जब अपने पुत्रों की लड़ाई का हाल सुना, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उसी वक्त पृथ्वीराज को कहला भेजा-'दुष्ट! तू अभी मेरे यहाँ से निकल जा। मेरी कुछ परवाह न कर तूने राज्य लोभ से इतना गृह कलह बढ़ाया। मेवाड़ में तुझ जैसे भ्रातृ द्रोही और अवज्ञाकारी के लिये कोई स्थान नहीं है। किसी दूसरी जगह जाकर अपना निर्वाह कर।' इस से पृथ्वीराज को बड़ी लज्जा आई और पाँच सवारों को साथ ले वे वहाँ से कुंभलगढ़ चले गये।

सांगा के चले जाने और पृथ्वीराज को देश निकाला होने से अब जयमल ही मेवाड़ के भावी उत्तराधिकारी रह गये थे। उन्हों ने टोड़ा (जयपुर राज्य में) के सोलंकी राव सुरताण, जो अलाउद्दीन के समय में अपने राज्य से निकाल दिया गया था और अब मेवाड़ के महाराणाओं के आश्रित होकर बदनोर में रहता था, की कन्या तारा से विवाह करना चाहा। उन्हों ने एक दिन सुरताण से कहलाया कि मैं तुम्हारी कन्या तारा

देवी को देखना चाहता हूँ। यदि तुम उसे मुझे पहले दिखला दोगे तो मैं विवाह कर लूंगा। इस पर राव सुरताण ने कहला दिया कि राजपूतों में कन्या को पहले दिखलाने का चलन नहीं है। यदि आप विवाह करना चाहें तो कर सकते हैं। इस में न मुझे कोई आपत्ति है, न मेरी कन्या को। राव सुरताण ने कोई अनुचित बात नहीं कही थी, परन्तु अभिमानी जयमल कब मानने वाले थे। उन्हों ने एक दम बदनोर पर चढ़ाई कर दी। राव सुरताण ने अपने आश्रय दाता के पुत्र से लड़ना उचित न समझा और उसी वक्त अपने सामान को छकड़ों में भर बदनोर से चल निकले। पहर रात गये जैसे ही कुँवर जयमल बदनोर पहुँचे वैसे ही उन्हें राव सुरताण के भागने की सूचना मिली। साथ के सरदारों ने जयमल से कहा कि अब रात्रि में पीछा करना ठीक नहीं; अभी तो यहाँ आराम कीजिये, सुबह होते ही उन्हें पकड़ लेंगे। जयमल को यह बात स्वीकार न हुई। विवश हो मशालें जला कर सुरताण का पीछा करना पड़ा। मशालों के प्रकाश को दूर से देख कर राव की स्त्री ने अपने भाई रतनसिंह से कहा कि जल्दी चलो, शत्रु आ पहुँचे हैं। भाई ने कुछ उत्तर न दिया। अपने घोड़े को रोक कर वह चुपके से जयमल के साथियों में मिल गया। वे लोग सब थकान और नींद के मारे हुए चल रहे थे। किसी का ध्यान उधर न गया। रतनसिंह जयमल की बग्घी के पास अपना घोड़ा ले गया और बोला-'कुंवर साहब, साँखला रतना का मुजरा पहुँचे।' साथ ही अपना बरछा उनकी छाती के पार कर दिया। घाव गहरा था, इसलिये जयमल ने उसी वक्त अपनी जीवन लीला समाप्त करली। राजपूतों ने रतनसिंह को भी वहीं मार डाला। दूसरे दिन उसी स्थान पर रतनसिंह और जयमल का अग्नि संस्कार किया गया।

पृथ्वीराज ने जब अपने भाई की मृत्यु और तारा के सौन्दर्य की कथा सुनी तब वे स्वयं उसके साथ विवाह करने के लिये बदनोर पहुँचे। तारा भी पृथ्वीराज को चाहती थी; इसलिये राव सुरताण ने उसका विवाह कुँअर पृथ्वीराज के साथ कर दिया। परन्तु इस शर्त पर कि वे टोड़ा को मुसलमानों से छीन कर उन्हें वापस दिला देंगे। विवाह के कुछ ही दिनों बाद पृथ्वीराज ने टोड़ा पर चढ़ाई कर वहाँ के अधिकारी लल्लाखाँ को मार डाला और टोड़े का राज्य फिर राव सुरताण को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। कहते हैं, उसी दिन पृथ्वीराज ने टोड़े से एक सौ कोस की दूरी पर जालौर के गढ़ पर जा धावा किया, तभी से लोग उन्हें 'उडणां पृथ्वीराज' कहने लगे।

जयमल का प्रसङ्ग बीच में आजाने से हमें इधर उधर भटकना पड़ा। अब हम फिर मूल कथा पर आते हैं। जिस झगड़े के प्रवाह में बह कर पृथ्वीराज, साँगा और जयमल तीन तेरह होगये थे, उसकी जड़ सूरजमल ही थे। जिस दिन पुजारिन ने यह कहा कि–'सूरजमल को भी राज्य अंश प्राप्त होगा' एक नई आशा ने उन के हृदय में घर किया, और उसी आशा के चक्र में पड़ कर वे मरने मारने और तरह २ के कष्ट उठाने को उद्यत होगये। रायमल के चाचा सारंगदेव भी उन से मिल गये। मालवे के सुल्तान नसीरुद्दीन ने भी उन्हें सहायता दी। इस प्रकार एक अच्छी सेना लेकर सूरजमल ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की।

राणा रायमल वृद्ध होने पर भी स्वयं लड़ने के लिये रण-भूमि में आ डटे। चित्तौड़ में गम्भीरी नदी के पास भयंकर युद्ध हुआ। महाराणा बड़ी वीरता से लड़े। उन के कुल मिला कर

बाईस घाव लगे, और समस्त शरीर लोहू लुहान होगया। राणा की सेना थोड़ी थी, और सम्भव था कि वे शत्रुओं के हाथों मारे जाते, इतने में एक हज़ार सिपाहियों को साथ लेकर पृथ्वीराज वहां आ पहुँचे। युद्ध ने फिर ज़ोर पकड़ा। खचाखच तलवारें चलने लगीं। राणा के सिपाही जो निरुत्साह होगये थे, फिर से प्रेत की तरह लड़ने लगे। लड़ते २ सूरजमल और पृथ्वीराज का सामना होगया। परन्तु उस समय न तो भतीजे ने चाचा का मुँह देखा, न चाचा ने भतीजे पर दया दिखाई। स्नेह और सम्बन्ध, माया और मोह, प्रेम और सौहार्द्र पर पानी फेर दोनों ही बुभुक्षित सिंह की तरह एक दूसरे पर टूट पड़े। अन्त में सूरजमल की हार हुई, और भाग कर उन्हों ने अपने प्राणों की रक्षा की। उस दिन से सूरजमल सादड़ी में और सारंगदेव बाठरड़े में रहने लगे।

अपने सहायक सारंगदेव से मिलने के लिये सूरजमल एक दिन बाठरड़े गये। इसकी ख़बर पृथ्वीराज को मिली। सोचा, दोनों मिल कर फिर कोई उपद्रव न खड़ा करें, इसलिये वे भी वहाँ जा पहुँचे। सर्दी के दिन थे। रात अँधेरी थी। सूरजमल अपने साथियों और सारंगदेव के साथ आग के पास बैठे हुये ताप रहे थे। अग्नि के प्रकाश में सूरजमल को पहचान कर पृथ्वीराज ने दूर ही से तलवार फेंकी। यदि सारंगदेव रक्षा न कर लेते, तो वे वहीं मारे जाते। भतीजे को आया देख पहले तो सूरजमल भी तलवार निकाल कर उसकी ओर झपटे। परन्तु फिर न मालूम क्या सोच कर उन्हों ने उसे दूर फेंक दिया और बोले—"कुमार, मैं वृद्ध हूँ, विद्रोही हूँ। मेरे मरने की कोई चिन्ता नहीं। किन्तु मेवाड़ की एक मात्र आशा तुम्हीं हो। देश का सूर्य

तुम्हीं पर उदय-अस्त होता है। यह युद्ध है। संयोग से यदि मैं ने तुम्हें कहीं मार डाला तो देश में चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार हो जायगा। इसलिये लड़ने भिड़ने का विचार छोड़ अपनी तलवार को म्यान में रक्खो।" पृथ्वीराज मान गये। घोड़े से उतर कर उन्हों ने चाचा को छाती से लगाया, और बोले—"काका जी, आप क्या कर रहे थे?" सूरजमल ने उत्तर दिया—"बेटा! हम तो यहाँ ताप रहे थे।" पृथ्वीराज ने फिर कहा—काका जी, मेरे जैसे विकट शत्रु के होते हुये भी क्या आप इतने निश्चिन्त होकर तापते हैं?" "हाँ, बेटा" सूरजमल ने कहा।

प्रातः काल होते ही सूरजमल सादड़ी चले गये। सारंगदेव और पृथ्वीराज देवी के मन्दिर में दर्शन करने गये। वहाँ देवी के सामने जिस वक्त बलिदान हो रहा था, पृथ्वीराज के विचारों ने फिर पलटा खाया। सोचा–इन विद्रोहियों का अन्त ही क्यों न कर दिया जाय। इनके जीवित रहने से हमें लाभ ही कौनसा है? यह विचार उत्पन्न होते ही उन्हों ने अपनी तलवार निकाली और देवी के पाट पर झुके हुए सारंगदेव पर इतने ज़ोर से प्रहार किया कि उसका वहीं ढेर हो गया। सारंगदेव का फैसला कर सूरजमल से निबटने के लिये पृथ्वीराज सादड़ी पहुँचे। उन दिनों राजपूतों में एक विशेष बात यह थी कि युद्ध में तो वे एक दूसरे का ख़ून पीने को तैयार रहते थे, परन्तु घर पर भाई की तरह व्यवहार करते थे। बिना किसी संकोच, शंका और संदेह के उन में परस्पर खान-पान हुआ करता था। तदनुसार पृथ्वीराज भी सूरजमल के साथ भोजन करने बैठे। सूरजमल की स्त्री ने अपने पति से छिप कर भोजन में विष मिला

दिया था, परन्तु भूल से उसने उस थाल को अपने पति के सामने रख दिया जिस में विष मिश्रित भोजन था। पति ने अपना हाथ थाल की तरफ बढ़ाया ही था कि, उसे अपनी भूल याद आगई और हाथ बढ़ा कर थाल को अपनी तरफ़ खींच लिया। पृथ्वीराज चाची के रहस्य को समझ गये, लेकिन कुछ न बोल कर उठ खड़े हुए। सूरजमल लज्जा से पानी २ होगये। काका को निर्दोष समझ कर पृथ्वीराज गद्गद् कंठ होगये, और बोले- 'काका जी, अब आपकी सेवा में मेवाड़ का समस्त राज्य हाज़िर है।' सूरजमल ने उत्तर दिया-'बेटा, गद्दी लेना तो दूर रहा, मेवाड़ की भूमि पर पानी पीने की भी मुझे शपथ है।' इतना कह कर सूरजमल ने वहाँ से जाने की तयारी करदी। पृथ्वीराज ने उन्हें बहुत रोका, और समझाया-बुझाया, परन्तु उन्हों ने एक न मानी, और कांठल में जाकर एक नया राज्य स्थापित किया जो अब प्रतापगढ़ के नाम से प्रसिद्ध है, और जहां उनके वंशज आज तक राज कर रहे हैं।

अभी तक पृथ्वीराज सांगा के विषय में कुछ न जानते थे। उन्हें इतना भी मालूम न था कि वे इस संसार में हैं अथवा नहीं। सांगा के जीते जी पृथ्वीराज अपना पथ कंटका कीर्ण समझते थे। इसलिये सूरजमल और सारंगदेव से फुर्सत पाकर जब उन्हों ने सांगा के सम्बन्ध में छान बीन करना प्रारंभ किया तब पता लगा कि सांगा जीवित हैं। वे श्रीनगर (अजमेर ज़िले में) के राव कर्मचन्द्र के आश्रय में रहते हैं और उनका विवाह भी उक्त राव की कन्या से हो चुका है। इस पर उन्हें क्रोध आगया, और कर्मचन्द्र तथा साँगा को दंड देने के लिये श्रीनगर की तरफ़ जाने की तैयारी करने लगे। परन्तु भाग्य में

कुछ और ही लिखा था। विधाता की मर्ज़ी दूसरी थी। वे उधर जाने ही को थे कि उनकी बहिन आनंदा बाई का पत्र उन्हें मिला।

आनंदा बाई का विवाह सिरोही के राव जगमाल के साथ हुआ था। उस के कई रानियाँ थीं। इन दूसरा रानियों के कहे में आकर वह आनंदा बाई को नाना प्रकार के कष्ट दिया करता था। जगमाल नशा करके कभी आनंदा बाई को मारता, कभी गाली देता, कभी हाथ पाँव बाँध कर लुढ़का देता और कभी केश पकड़ कर खींचता था। अन्त में तंग आकर आनंदा बाई ने पति के इस दुर्व्यवहार की सूचना एक पत्र द्वारा अपने भाई को दी। इस से श्रीनगर की ओर जाने का विचार छोड़ पृथ्वीराज सिरोही जाने को तयार हुए। वहां पहुँच कर उन्हों ने जगमाल की गर्दन पकड़ ली, और उसके जीवन का अन्त करने ही को थे कि इतने में बहिन ने कहा—"भैया, प्राण दान दो। मैं विधवा हो जाऊँगी। मैं ने विधवा होने के लिये तुम्हें निमन्त्रण नहीं दिया है।" जगमाल भी गिड़ गिड़ा कर प्राण-भिक्षा माँगने लगा। इस पर पृथ्वीराज ने बहनोई से कहा कि यदि तुम मेरी बहिन के चरण छूओ और उसके जूतों को मस्तक पर रक्खो, तो क्षमा कर सकता हूँ। जगमाल के मान जाने पर वीर पृथ्वीराज ने उसे अभय दान दिया। दो एक दिन पृथ्वीराज वहीं रहे। फिर बहिन और बहनोई से विदा लेकर कुम्भलगढ़ की ओर चले। वहाँ से प्रस्थान करते समय जगमाल ने कुछ बाजीकरण गोलियां पृथ्वीराज को दीं। पृथ्वीराज ने स्वप्न में भी इस बात को न सोचा था कि उन के साथ विश्वासघात किया जायगा। कुम्भलगढ़ के पास पहुंचते २ उन्हों ने उन में से एक गोली खाई। गोलियों में विष मिला हुआ था, इसलिये

खाते ही उनका सिर घूमने लगा। गला सूख गया और अंग प्रत्यंग शिथिल होगये। फिर एक गज़ भी आगे न बढ़ सके। मामा देव के मन्दिर के पास पहुँच कर उन्हों ने इसकी सूचना अपनी स्त्री तारा को दी। समाचार मिलते ही दुःखिनी तारा दौड़ी हुई आई; परन्तु उस के वहाँ पहुँचने के पहिले ही पृथ्वी-राज के प्राण पखेरू उड़ चुके थे। यह देखकर तारा के होश उड़ गये और शोकाभिभूत होकर वह पति की निर्जीव देह पर गिर पड़ी। तारा की राय से वहीं चिता तैयार की गई, और वहीं अपने स्वामी के शव को गोद में ले धधकती हुई चिता में बैठ कर वह भी भस्मीभूत होगई।

मेवाड़ के एक महान् वीर कुमार का दुष्ट जगमाल ने इस बुरी तरह से अन्त किया, आज यह सोचकर दुःख होता है। यदि पृथ्वीराज जीवित रहकर मेवाड़ का राज्य सूत्र अपने हाथ में लेते, तो मेवाड़ के इतिहास का क्या स्वरूप होता और समस्त भारत का इतिहास भी किस तरह लिपिबद्ध हो जाता,—इसका अनुमान आज इतने वर्षों के बाद करना कठिन है, और न इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। किन्तु इतना कहे बिना फिर भी नहीं रहा जाता कि मुग़ल राज्य के संस्थापक बाबर का मुक़ाबला वीर परन्तु विचारशील, साहसी परन्तु सावधान, सांगा से न होकर यदि उद्धत प्रकृति पृथ्वीराज से होता तो उसे खानवा के युद्ध का विजय-लाभ कदापि न होता, और भारत में मुग़लों की जड़ न जमती।

ग्यारहवां अध्याय

महाराणा सांगा

(खानवा का युद्ध)

राणा रायमल से अपने पुत्र की मृत्यु का दुःख न सहा गया। जिस पुत्र को पाकर वे सांगा के चले जाने और जयमल के मरने का दुःख भूल गये थे, जिसके वीर कर्मों की कथायें मात्र सुनने से शत्रुओं के हृदय दहल जाते थे, और जिसके साहस के सहारे वे मेवाड़ का राज्य कार्य सँभालते थे, उसी को इतनी जल्दी संसार से प्रस्थान करते देख उनका धीरज जाता रहा, और वे अपार शोक-सागर में डूब गये। दिन-दिन उन का स्वास्थ्य गिरने लगा और वह दिन भी बहुत निकट आगया, जब वे शय्या पर पड़े २ मृत्यु के दिन गिनने लगे। इसी समय उन्हें मालूम हुआ कि सांगा कर्मचन्द्र के यहां अपने दिन काट रहे हैं। उन्हों ने एक दूत भेज कर सांगा को मेवाड़ में लौट आने को कहला भेजा। पिता की आज्ञा पाते ही सांगा कर्मचन्द्र के साथ श्रीनगर से रवाना होगये, और कुछ ही दिनों में चित्तोड़ पहुँच राणा से भेंट की। इतने वर्षों के बाद अपने पुत्र का मुख देख कर रायमल को असीम हर्ष हुआ, और प्रसन्न होकर सांगा के आश्रयदाता कर्मचन्द्र को उन्हों ने एक जागीर पुरस्कार में दी। मेवाड़ में बंबोरी की जागीर आज तक कर्मचन्द्र के वंशजों के अधिकार में है और मेवाड़ के बत्तोसों में उन की गणना होती है।

सांगा के पुनः प्राप्त हो जाने से राणा रायमल को कुछ सान्त्वना अवश्य मिली, परन्तु पृथ्वीराज की मृत्यु से जो धक्का उन के स्वास्थ्य को लगा था, उस से वे न सँभल सके; और सन् १५०६ ई० में उन्हों ने अपनी सांसारिक लीला संवरण करली। अब सांगा मेवाड़ के अधिपति हुए। स्वभाव से ही महत्वाकांक्षी तो थे ही, गद्दी पर बैठते ही वे अपना राज्य बढ़ाने में संलग्न होगये, और थोड़े ही दिनों में मेवाड़ के आस पास के छोटे-बड़े कई हिन्दू और मुसलमान राज्य उन के अधिकार में आगये। शनैः शनैः राणा का बल इतना बढ़ा कि राजस्थान और उसके बाहर के भी कई राजा इन के अधीन होगये, और उन्हें अपना अधिपति मानने लगे। मारवाड़ और आमेर के राजा तो महाराणा को अपना नेता मानते ही थे। अब ग्वालियर, अजमेर, कालपी, चन्देरी आदि स्थानों के शासन कर्ताओं ने भी इन की वश्यता स्वीकार करली। ये सब महाराणा को ख़िराज देते तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी विजय पताका के नीचे एकत्रित होकर उनकी तरफ़ से लड़ते थे।



वीरवर सांगा

इस प्रकार आस पास के राजाओं पर अधिकार स्थापित करके राणा सांगा ने दिल्ली के शासक सिकंदर लोदी के अधीनस्थ इलाकों को अपने राज्य में मिलाना प्रारम्भ किया। सिकन्दर के राज्य की अवस्था उस समय अत्यन्त ही शोचनीय और ख़राब थी। इसलिये उसने राणा का सामना न किया। परन्तु जब सिकन्दर लोदी के पश्चात् उसका पुत्र इब्राहीम गद्दी पर बैठा, तब उसने राणा का प्रतिरोध करना चाहा, और इस इच्छा से उसने मेवाड़ पर चढ़ाई की। खातोली नामक गांव के पास एक भारी संग्राम हुआ जिस में इब्राहीम की पराजय हुई। उसे कई सहस्र सेना, और विपुल संपत्ति की क्षति उठानी पड़ी। कहते हैं कि इब्राहीम लोदी के साथ महाराणा का अठारह बार लड़ाई हुई, और अठारह ही बार सुल्तान को युद्धस्थली से अपना सा मुंह लेकर भागना पड़ा।

बेचारे इब्राहीम की बुरी दशा हुई। इधर तो महाराणा का डर बना हुआ था, और युद्ध से चेता भी न था कि इतने में मुग़ल राज्य के संस्थापक बाबर ने उत्तर से आकर उस पर आक्रमण कर दिया। पानीपत के मैदान पर भीषण युद्ध और भयंकर मारकाट हुई। इब्राहीम के योद्धा बाबर के वीर सिपाहियों के सामने न टिक सके। उसकी सेना ने भाग कर, पीठ दिखाकर अपने प्राणों की रक्षा की। सुल्तान स्वयं युद्ध में मारा गया। बचाव का और कोई उपाय न देखकर दुखी प्रजा ने शान्ति की इच्छा से, दिल्ली के द्वार खोल कर, विजयी बाबर का स्वागत किया। इसके एक सप्ताह बाद बाबर ने दिल्ली का राज्य मुकुट अपने मस्तक पर धारण किया, जो लगभग दो सौ वर्ष तक उस के वंशजों को सुशोभित करता रहा।

कुछ महीनों तक तो बाबर दिल्ली ही में पड़ा रहा। फिर आगे बढ़कर उसने आगरे को भी अपने अधिकार में कर लिया। इब्राहीम के साथ युद्ध करने में राणा को बयाना हाथ लगा था। आगरा तो उस समय बयाना का परगना मात्र था। यह स्थान युद्ध और राजनीति की दृष्टि से बड़े महत्व का था। यह जानते हुये भी कि बयाना पर राणा सांगा का अधिकार है, बाबर ने आगरे को ले लिया। इसका मतलब यही था कि वह राणा से लड़ना चाहता है, और आगरा लेकर उसने राणा को युद्ध की चुनौती दी है। राणा सांगा समझे हुए थे कि तैमूर का तरह बाबर भी लूट मार मचा कर, धन संपत्ति लेकर, अपने देश की ओर चला जायगा। परन्तु जब उन्हों ने देखा कि वह तो उन पर भी हाथ साफ़ किया चाहता है, तो लाचार होकर उन्हें भी अपने गौरव की रक्षा के लिये रणस्थली में उतरना पड़ा।

युद्ध की तैयारियां होने लगीं। राजस्थान के राजा महाराजाओं ने राणा की पूरी २ सहायता की। सब अपनी २ सेनाएँ लेकर राणा की सूर्यांकित पताका के नीचे इकट्ठे हुए। इब्राहीम लोदी का लड़का भी अपने बाप का बदला लेने की आशा राणा की सेना से आ मिला। मेवात का बादशाह हसनखां भी अपना दल लेकर राणा की सहायता को आया। इस प्रकार बाबर का सामना करने के लिये राणा के पास एक अच्छी सेना इकट्ठी होगई।

बाबर महाराणा की वीरता, साहस और रण कौशल की गाथाएँ भारत भूमि पर पाँव रखने के पहिले ही सुन चुका था। वह इस बात को खूब जानता था कि हिन्दुस्तान में उसका

सब से भारी शत्रु महाराणा थे, न कि इब्राहीम। यदि बाबर न आता तो भी इब्राहीम तो सांगा के धक्कों से प्राय नष्ट हो हो चुका था। महाराणा के सैन्य-संगठन और नियन्त्रण को स्मरण कर कभी २ बाबर थर्रा उठता था। उसे अच्छी तरह से मालूम था कि इस संग्राम के दो ही परिणाम हो सकते हैं। या तो वह समस्त भारत का अधीश्वर हो जाय, या उसकी सब आशाओं पर पानी फिर जाय, और हार कर उसे काबुल लौट जाना पड़े। इधर राणा को भी कम निराशा न थी। वे जानते थे कि बाबर की शक्ति का सामना करना खिलवाड़ नहीं है। इसलिये जहाँ तक हो सका, अपनी सेना को सब प्रकार से पूर्ण और व्यवस्थित करने में उन्हों ने भी कोई कसर नहीं रक्खी। महाराणा की सेना में पाँच सौ हाथी, ८०,००० घोड़े और अगणित पैदल थे। ऐसी महती सेना के नेता स्वयं बन राणा सांगा हिन्दू धर्म और हिन्दू गौरव की रक्षा के लिये मेवाड़ से रवाना हुए।

सब से पहले महाराणा ने बयाना को, जो आगरे से ५० मील के फ़ासले पर है, अपने अधिकार में किया। वहाँ बाबर के कुछ सैनिकों ने उन का सामना किया, किंतु वरुणालय की तरह उमड़ती हुई महाराणा की सेना में वे इस प्रकार विलीन हो गये, जिस तरह पानी का बुलबुला देखते ही देखते पानी में लीन हो जाता है। अपनी विजय हुई देख राणा के रणोन्मत्त योद्धाओं के कलेजे बाँसों उछलने लगे। इस समय उन में अनुपम उत्साह था, अद्भुत साहस था। बाबर ने जब गुप्तचरों द्वारा अपनी सेना की दुर्दशा का हाल सुना तो वह सुन्न रह गया। कुछ सवार फिर उसने राणा को आगे बढ़ने से रोकने के लिये भेजे, लेकिन इनकी भी वही दशा हुई। तातारियों को इस तरह मरते

देख बाबर की सेना में तहलका मच गया। छोटे बड़े सब भयभीत होगये, किन्तु बाबर न हुआ। अपनी सेना का अग्रणी स्वयं बन, वह आगे बढ़ा और खानवा नामक स्थान पर, जो अब भरतपुर रियासत में है, आकर रुक गया। इस समय उसे राणा पर आक्रमण करने की इतनी परवाह न थी, जितनी उक्त स्थान को अपने अधिकार में करने की। युद्ध के लिये खानवा को बाबर बड़ा ही उपयुक्त स्थान समझता था। गिरते, पड़ते किसी भी तरह जब वह वहाँ पहुँच गया, तब उसे शान्ति मिली। यहीं पर पड़ाव डाल कर बाबर ने चारों ओर खाइयाँ खुदवाईं; उन पर तोपें रख कर उन्हें ज़ंजीरों से जकड़ दिया, और फिर सांगा की ओर से आक्रमण होने की प्रतीक्षा करने लगा।

राजपूत सेना इस स्थान से कई कोस दूर डेरा डाले पड़ी थी। पन्द्रह दिन तक दोनों सेनाएँ एक दूसरे का मार्ग रोके रहीं। बाबर और सांगा दोनों ही को पूरी तरह से मालूम था कि उनके लिये यही अन्तिम युद्ध है, और इसी पर उनके भाग्य का निर्णय होने वाला है। दोनों के लिये एक ओर रत्नगर्भा भारत भूमि का विशाल राज्य था, दूसरी ओर भावी पराजय का भय। कहते हैं कि इस समय दोनों नेताओं में संधि की बातचीत भी हुई थी। परन्तु शर्तें सन्तोषप्रद न होने से युद्ध पर ही अंतिम फ़ैसला रहा। इसी समय बाबर की सेना में ५०० योद्धा फिर काबुल से आकर सम्मिलित होगये। उनके साथ एक ज्योतिषी भी था। कुछ गणना करके ज्योतिषी ने कहा कि इस युद्ध में मुसलमानों की हार होगी, क्योंकि मंगल सामने है। ज्योतिषी की भविष्य वाणी से बाबर की सेना में हू-हप मच गई। भयभीत सेना का रहा सहा साहस भी जाता रहा। परन्तु बाबर ने

ज्योतिषी के कथन की कुछ भी परवाह न की। अपना काम निकालने के निमित्त वह मज़हबी जोश से अपनी सेना को उत्तेजित करने लगा। बाबर एक भारी मद्यपी था। उसने मदिरा न पीने और दाढ़ी बढ़ाने की शपथ खाई। जो मदिरा उसके पास थी, फिंकवा दी। सोने-चाँदी की सुराहियों और पात्रों को तुड़वा कर फकीरों को बाँट दिये, और प्रतिज्ञा की कि यदि इस युद्ध में मेरी विजय हुई तो मुसलमानों के बहुत से महसूलों को मुआफ़ कर दूँगा।

बाबर के ऐसे धार्मिक आचरण और त्याग की कथा सारी सेना में दावानल की तरह फैल गई। अन्त समय में उसने धर्म का आश्रय लिया, जिस का मतलब यही था कि विजय के संबंध में उसे भी पूरा पूरा संदेह था। इतना तो सिपाही भी समझ सकते थे। अपने नेता के उक्त व्यवहार से उन्हें विश्वास होगया कि हार अवश्य भावी है। इसलिये उत्साहित होकर राजपूतों से लड़ना तो दूर रहा, उल्टे विद्रोह करने को तत्पर होगये। परन्तु बाबर एक चतुर मनुष्य था। ऐसी नाज़ुक



महाराणा सांगा का प्रतिद्वन्दी वीर बाबर

परिस्थितियों का सामना उसे पहले भी कई बार करना पड़ा था। वह तनिक भी विचलित न हुआ, प्रत्युत्त बड़ी ही शान्ति और निर्भीकता के साथ स्थिति को सुधारने में लग गया। प्रातःकाल होते ही उस ने सब सिपाहियों को परेड करने का हुक्म दिया, और स्वयं सामने आकर बोला—वीरो! इस संसार में जो जन्म लेता है, वह एक दिन अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जब एक दिन मरना ही है, तब क्यों नहीं हम अपना नाम संसार में अमर करके मरें। ईश्वर की सुकृपा से आज वह दिन हमें मिला है। जो हम युद्ध में मारे गये तो दीन इस्लाम के लिये मरेंगे, इसलिये स्वर्ग मिलेगा। और यदि जीवित रहेंगे तो ग़ाज़ी कहला कर इस्लाम का यश फैलावेंगे। अपमानित होकर, गुलाम बन कर जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा तो धर्म के लिये प्राण दे देने ही में भला है"। स्वर्ग प्राप्त करने का सुअवसर हमारे पास है। यदि हम उसे ठुकरा दें तो इस से अधिक मूर्खता और कायरता हमारे लिये क्या होगी? भाइयो, इसलिये प्रतिज्ञा करो कि 'जब तक जीवित रहेंगे, रणभूमि से न हटेंगे और शत्रुओं को नाश करेंगे।' बाबर के इस भाषण से सिपाहियों में वीर रस उमड़ आया। कुरान हाथ में लेकर सब ने शपथ खाई कि प्राण रहते हम कभी रणभूमि से अलग न होंगे, मर जायँगे परन्तु पीठ न दिखावेंगे।

अपने काम में आशातीत सफलता हुई देख, बाबर का हृदय हर्ष से उछल पड़ा, और पड़ाव से दो मील आगे बढ़ कर उस ने अपनी सेना को खड़ा किया। वह मध्य में रहा। दाहिनी तरफ़ अपने पुत्र हुमायूँ और बाईं ओर अपने जमाई सैयद महँदी ख़्वाजा को रक्खा। दाहिने बायें मुग़ल सवारों की दो टुकड़ियाँ जमाईं।

आगे तोपख़ाना, पीछे बन्दूकची, और उन के पीछे सवार थे। सन् १५२७ की पन्द्रहवीं मार्च को प्रातःकाल साढ़े नौ बजे युद्ध आरम्भ हुआ। राजपूतों ने सब से पहले तुर्कों के दाहिने पार्श्व पर आक्रमण किया। इस से वह कमज़ोर होकर छिन्न भिन्न होने लगे। बाबर ने सहायता भेज कर इसे परिपुष्ट किया, और गोलों की वर्षा शुरू की। दनादन आवाज़ करती हुई तोपें गोले, आग और धुंआ उगल कर राजपूतों को विनष्ट करने लगीं। परन्तु वे फिर भी ऐसी वीरता और भयङ्करता से लड़ते रहे, मानो बात ही बात में मुग़लों को काट कर पृथ्वी पर सुला देंगे। प्रचण्ड युद्ध होने लगा। मारो, काटो, पकड़ो आदि कहते हुये राणा सांगा संग्राम भूमि में घूम २ कर अपने योद्धाओं को उत्साहित करने लगे। इसी बीच में एक तीर आकर उन के ललाट में लगा और वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। स्वामि भक्त सामन्तों ने एक पालकी में लिटा कर उन्हें रणक्षेत्र से हटा दिया। राणा के घायल होने की ख़बर सुन कर, पहले तो राजपूत हताश होगये, फिर क्रुद्ध होकर बड़े ज़ोरों से एक हमला उन्हों ने मुग़ल सैन्य पर किया, और कइयों को मार कर यमलोक भेजने लगे।

इस वक्त तक बाबर चुप चाप युद्ध का रंग देख रहा था। वह एक बड़ा ही अनुभवी और दूरदर्शी लड़ाका था। बारह वर्ष की आयु से ही वह युद्ध में संलग्न था। उस ने अपने सामने कई बड़े २ वीरों के मस्तक लुढ़कते देखे थे। मानव शक्ति की गहराई और पहुँच का उसे पूरा २ ज्ञान था। राजपूतों के इस आक्रमण से वह नाम मात्र को भी विचलित एवं निराश न हुआ। उस ने जब देखा कि दिन भर के युद्ध से राजपूत थक

गये हैं, और उन में इतनी शक्ति नहीं है कि नई सेना के सामने टिक सकें, तो उस ने अपने ताज़ा सिपाहियों को लेकर मध्य भाग से हमला किया। आगे ये सिपाही राजपूतों से लड़ने लगे और पीछे से तोपों ने भी भीषणता से गोले बरसाने शुरू किये। इस आकस्मिक आक्रमण से राजपूत सेना में गड़बड़ी मच गई, और सब के सब हथियार लेकर अग्रभाग की ओर बढ़े; परन्तु तोपों के सामने न टिक सकने के कारण, फिर पीछे हटे। राजपूतों को पीछे हटते देख कर तातारियों ने ज़ोर से हमला किया और चारों तरफ़ से राजपूत सेना को घेर लिया। चारों ओर से घिर जाने और गोलों से तंग आकर राजपूत सैनिक भागने लगे। बाबर ने डेरों तक उनका पीछा किया, और अपने सवारों को पुकार २ कर कहने लगा कि "काटो! काटो!! ये फिर इकट्ठे होकर हमला न करने पावें।" घायल वीरों और लोथों को कुचलते हुये राजपूत योद्धा लौट पड़े। वे फेरने से नहीं लौटते, आंखों से नहीं देखते, और न पुकारने से सुनते थे। बाबर की विजय हुई। मुसलमान राजपूतों का पीछा करते हुये डेरों तक आये। इस प्रकार राणा की सेना को तीन तेरह कर, विजयी बाबर ने ग़ाज़ी की उपाधि धारण की।

इस युद्ध में पराजय होने के कारण राणा सांगा का दबदबा भारत से उठ गया। यदि राणा बयाना की लड़ाई के पश्चात् समय न खोकर, खानवा में बाबर की भयग्रस्त सेना पर जा टूटते तो अवश्य ही उनकी विजय होती, परन्तु होनहार होकर ही रहता है; कर्मरेख लाख चतुराई करने पर भी नहीं मिटती। अतः राजपूतों की पराजय के कारणों पर टीका टिप्पणी न कर, हम अब सांगा की ओर चलते हैं। हां, तो जब राजपूत लोग

मूर्च्छित राणा को उठा कर बसवा नामक गांव में ले गये, और वहां जब उन की मूर्च्छा टूटी, तब उन्हों ने पूछा कि युद्ध का परिणाम क्या हुआ है। सरदारों ने सारी कथा राणा से कह सुनाई। सुन कर उन्हें असीम दुःख हुआ, और रणभूमि से हटने वाले सरदारों को बहुत बुरा भला कहने लगे। इस हार से उन्हें बड़ी ग्लानि हुई, और आवेश में आकर उन्हों ने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं बाबर को जीत न लूँगा, चित्तौर में पांव न रक्खूँगा। वे एक पल के लिये भी अपनी प्रतिज्ञा को न भूले। यदि कुछ दिन और रहते तो अवश्य बाबर को नाकों चने चबवाते। परन्तु उन की इच्छा पूरी न होने पाई थी, कि उन के कुछ साथियों ने विष देकर उन्हें मार डाला। इस प्रकार मेवाड़ के भाग्याकाश का एक जाज्वल्यमान सितारा ३० जनवरी सन् १५२८ को अस्त होगया।

महाराणा साँगा का बदन गठीला, चेहरा भरा हुआ, क़द मझोला और रंग गेंहुआ था। राणा कुंभा के बाद, प्रताप को छोड़ कर ऐसा वीर शासन कर्ता मेवाड़ में कोई दूसरा नहीं हुआ, जिसकी तुलना वीरवर साँगा जी से की जा सके। महाराणा साँगा केवल वीर, साहसी, युद्ध कुशल और स्वदेश-प्रेमी ही न थे, वरन् वे दूरदर्शी, विचारशील और राज-नीतिज्ञ भी प्रथम श्रेणी के थे। अपनी प्रतिभा और तलवार के मेल से ही उन्हों ने राजस्थान के समस्त राजाओं में सर्वोच्चता प्राप्त की थी। हिन्दू राजा ही नहीं, बल्कि भारत के कई मुसलमान शासनकर्त्ता भी इनके पराक्रम का लोहा मानते थे। महाराणा की वीरता का अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि छोटे-बड़े

कुल मिलाकर उनके शरीर पर ८० घाव थे। भाई के साथ लड़ते समय उनकी एक आँख फूट गई थी, और इब्राहीम के साथ युद्ध में इनका एक हाथ जाता रहा था। फिर भी जब कभी वे रणभूमि में आकर खड़े होते, तब शत्रुओं पर आतंक छा जाता था।

बारहवां अध्याय

रानी करुणावती (कर्मवती)

(चित्तौड़ का दूसरा शाका)

महाराणा सांगा के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे। अपने पिता की तरह रत्नसिंह भी साहसी, वीर और स्वदेशाभिमानी थे। चित्तौड़ के फाटक दिन रात खुले रख कर वे कहा करते थे कि एक ओर से दिल्ली और दूसरी ओर के मांडू चित्तौड़ के द्वार हैं। परन्तु मेवाड़ के अभाग्य से राणा ने समय के पहिले ही अपनी सांसारिक लीला समाप्त कर दी। बात यह थी कि जिस कन्या के साथ राणा विवाह करना चाहते थे, उसका विवाह बूंदी के हाड़ा सूरजमल के साथ होगया। महाराणा ने इस में अपना अपमान समझा और सूरजमल से बदला लेने का अवसर ढूढ़ने लगे। एक दिन दोनों शिकार खेलने के लिये घने बन में जा पहुँचे। उनके साथी पीछे रह गये थे, केवल सूरजमल साथ था। अवसर देखकर राणा ने सूरजमल के तलवार मारी। वह घोड़े पर से गिर पड़ा, परन्तु मरा नहीं। थोड़ी देर बाद जब वह सचेत हुआ तो उसने अपना दुपट्टा फाड़ कर घाव बाँधे और भागते हुए राणा से पुकार कर कहा—"अरे कायर! अब क्या भागता है। इस नीच और घृणित कार्य से तेरे कुल में जो कलंक लगा है, वह लाख धोने पर भी मिटने का

नहीं।" रत्नसिंह समझते थे कि सूरजमल मर गया है, किन्तु उसे जीवित देखकर वे लौट पड़े और उस पर आक्रमण किया। सूरजमल रक्त के बहने से निर्बल होगया था। वह इस योग्य नहीं था कि उठ कर राणा का सामना करता। उठ तो वह न सका, परन्तु लेटे ही लेटे उसने अपनी लम्बी भुजाओं से राणा को खींच कर काठी से गिरा दिया। कटे हुए पेड़ का तरह रत्नसिंह घोड़े से गिरे ही थे कि उसने ज़ोर से तलवार का एक हाथ मारा जिस से वे चीख़ मार कर वहीं लेट गये और फिर न उठे।

मेवाड़ का राज्य अब रत्नसिंह के छोटे भाई विक्रमादित्य को मिला। विक्रमादित्य में राज्योचित गुणों का सर्वथा अभाव था। वे बड़े ही हठी, क्षमाहीन और अदूरदर्शी पुरुष थे। राज्य-कोष हाथ में आते ही उन्हों ने सात हज़ार पहलवानों को नौकर रख लिया और राज-काज को छोड़ कर अपना समय उनकी कुश्ती और तरह २ की कसरतें देखने में व्यतीत करने लगे। स्वार्थी मित्रों के फेर में पड़कर राणा ने दोनों हाथों से धन उलीचना प्रारम्भ किया। भरा हुआ ख़ज़ाना ख़ाली हो रहा था, लेकिन वे आँखें बंद कर के विलास-सामग्री और तुच्छ बातों में धन बहा रहे थे। सरदारों ने बहुत समझाया, परन्तु उन्हों ने एक न सुनी। वे उल्टे नाराज़ होगये और उनके ऊंचे पद छीन कर पहलवानों को देने लगे। इस से सरदारों में असंतोष फैल गया, और बहुत से चित्तौड़ छोड़ कर अपने २ ठिकानों पर चले गये। प्रजा-कार्य में राणा को असावधान देखकर चोर, डाकू और लुटेरे निःशंक होकर मनमाने ढंग से लूटमार मचाने लगे। देखते ही देखते देश में हाहाकार मच गया।

मेवाड़ की ऐसी दुर्दशा देखकर गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चित्तोड़ पर चढ़ाई करदी। राणा ने राजपूत सरदारों से अपनी ओर से लड़ने को कहा, परन्तु उनके पूर्वोक्त दुर्व्यवहारों के कारण कोई राज़ी न हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि कुछ राजपूत बहादुरशाह से मिलकर उसको सहायता देने पर उतारू होगये। निदान राणा को स्वयं युद्ध क्षेत्र में उतरना पड़ा। विकट संग्राम हुआ। राणा बहादुरी से लड़े, किन्तु उनके वेतन-भोगी, देश प्रेम से शून्य सैनिक और पहलवान बहादुरशाह की सेना के सामने न ठहर सके और वह उन पर हाथ साफ़ करता हुआ आगे बढ़ता ही गया।

अपनी सेना की दुर्दशा का हाल जब महाराणी करुणावती (राणा सांगा की सब से छोटी पत्नी) ने सुना तो उस ने सिपाहियों की कमान अपने हाथ में लेली और उन राजपूतों को, जो तटस्थ होकर युद्ध का रंग देख रहे थे, ललकार कर युद्ध के लिये बुलाने लगी। जिस समय वह बोलती, यही मालूम होता था मानो कोई सिंहनी गर्जना कर रही है। उसकी वाणी में कुछ तो स्त्री-सुलभ मधुरता थी और कुछ था आत्माभिमान का जोश। राणी की फटकार से राजपूतों में वीर रस उमड़ आया और देखते ही देखते हज़ारों रणबांकुरे वीर अपने २ अस्त्र-शस्त्र लेकर बहादुरशाह की सेना का सामना करने को आगे बढ़े। फिर से भैरव लीला प्रारम्भ हुई। स्वदेश-प्रेम से मतवाले राजपूत और धर्मान्ध मुसलमान 'मारो' 'काटो' 'पकड़ो' चिल्लाते हुए रक्त की नदियाँ बहाने लगे। कई महीनों तक युद्ध जारी रहा। मुसलमानों के पास तोपें थीं। एक दिन मौक़ा पाकर उन्हों ने क़िले की दीवार तोड़ डाली और भग्न भाग में से होकर वे विद्युत वेग

से भीतर घुसने का उद्योग करने लगे। राजपूत भी उनका रास्ता रोक कर वहीं पहाड़ की भाँति अड़ गये। परन्तु कहाँ तक अड़े रहते? कहाँ दो और कहाँ दस? शनैः शनैः उनकी संख्या कम होती गई और अन्त में वरुणालय की तरह उमड़ी हुई बहादुरशाह की सेना को रोकना उनके लिये असंभव हो-गया। वीर निराश होगये। सब ने मिल कर सलाह की और यह तय किया कि अब रक्षा का कोई उपाय नहीं है, इसलिये दुर्ग की कुंजी बहादुरशाह के पास भेज देना चाहिए।

करुणावती ने जब अपनी सेना को फिर डगमगाते देखा तो वह क्रोध से तमतमा उठी, परन्तु यह सोच कर कि क्रोध करने से सैनिक कहीं विद्रोह न कर बैठें, वह बड़े ही शान्त भाव से उनको प्रोत्साहित करने लगी। वह बोली—"वीरो! यह समय आप लोगों की परीक्षा का है। यदि संकट को सामने देख कर आप देश-रक्षा से विमुख हुए, रण-भूमि से पीछे हटे और जीते जी दुर्ग पर मुसलमानों की विजय पताका फहराने दी, तो आपकी विमल कीर्ति में कलंक लग जायगा। मैं मानती हूँ कि आपकी संख्या थोड़ी है और शत्रु असंख्य; आप के पास बहुत थोड़े शस्त्र हैं, शत्रुओं के पास भाँति भाँति के हथियार, परन्तु इस से क्या? क्या सिंह कभी गज समूह को देख कर भयभीत होता है? कभी नहीं। हरगिज़ नहीं। भाइयो! मरना तो है ही। आज मरें या कल, दुःख में मरें या सुख में, घर में मरें या बाहर। फिर क्यों नहीं आप अपने देश, धर्म और जाति के लिये प्राणों को देकर, अमर कीर्ति छोड़ कर संसार से विदा लेते हैं? वीर शार्दूलो, अच्छी तरह से सोचलो कि धर्मच्युत होने से नरक में जाओगे और

संग्राम में लड़ते २ मरने से वैकुण्ठ में आपका स्वागत होगा और संसार अनंत काल तक आपकी उज्ज्वल कीर्ति का गुण गान करता रहेगा। मर कर भी तुम अमर हो जाओगे। अधिक कहने की अब आवश्यकता नहीं, क्योंकि वीर पुरुषों का हृदय हमेशा दुष्टों का दमन करने के लिये उत्साहित होता रहता है; स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति की रक्षा के लिये उनकी भुजाएँ फड़कती ही रहती हैं। उठो! वीरो उठो!! उठ कर नाम कर दिखाओ। विजय-लक्ष्मी तुम्हारे गले में विजय हार डालने को इकटक भाव से तुम्हारी ओर निहार रही है। जाओ, यही तो समय है।

राणी के ओजस्वी भाषण को सुन कर सब राजपूत खड़े २ एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उनके सामने एक जटिल समस्या थी। वे अच्छी तरह से जानते थे कि अब दुर्ग के जीते जाने में कोई कसर नहीं है; और बहादुरशाह का दल प्राण लेने को कटिबद्ध है, परन्तु राणी करुणावती के कथन की अवज्ञा करना भी वे नहीं चाहते थे। इसलिये उसकी आज्ञा-पालन में ही उन्हों ने अपना भला समझा, और रही सही शक्ति बटोर कर एक बार फिर मरने मारने को उद्यत होगये।

वीरों को इस प्रकार प्रोत्साहन देकर करुणावती महल में गई और अकेली बैठ कर देर तक देश की रक्षा का उपाय सोचती रही, परन्तु कोई रास्ता न दीख पड़ा। इसी उधेड़बुन में उसे मुग़ल सम्राट हुमायूं का नाम याद आया। उस दिन रक्षा बन्धन का त्यौहार था। रानी ने मुग़ल सम्राट को इस आशय पर एक पत्र लिखा—

भाई हुमायूं,

आज धर्म संसार से लुप्त हुआ चाहता है। पाप की विजय और पुण्य की पराजय हुआ चाहती है। चित्तोड़ पर संकट का समय है। यदि आपने उसकी रक्षा न की तो चित्तौड़का गौरव, धन, मान और नाम नष्ट हो जायगा। आज रक्षा बंधन का त्यौहार है। राखी के प्रेम-सूत्र में बँध कर भाई अपनी बहिन की रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है। मैं भी रक्षा बंधन भेज कर तुम्हें अपना भाई बनाती हूँ। अब बहिन के मान और उसकी रक्षा का भार तुम्हारे ऊपर है। तलवार की म्यान को फेंक कर भगिनी की रक्षा करो। मेरे स्वामी संसार से पहिले ही चल बसे; पुत्र अभी बालक है और राजपूत वीर एक २ करके सब युद्ध भूमि में काम आचुके हैं। इस समय मैं दीन हूँ, निःसहाय और निराश्रय हूँ। यदि इस दुखी अबला का संसार में कोई रक्षक है तो केवल तुम्हीं हो। भाई! बहादुरशाह की क्रूरता से मेवाड़ भूमि त्राहि त्राहि कर रही है, शीघ्र आओ। अधिक लिखने का समय नहीं है। तुम स्वयं बुद्धिमान और अनुभवशील हो। थोड़े में सब समझ जाओगे। देखो! बहिन की रक्षा बंधन के मान और उसकी रक्षा का प्रश्न है। शीघ्र आओ! प्रति पल मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी।

तुम्हारी विपद्ग्रस्ता भगिनी,

करुणा।

पत्र लिख कर करुणा ने एक दूत को शीघ्र हुमायूं के पास

भेजा। हुमायूं उस समय आगरे में नहीं था। वह शेरशाह के साथ कहीं दूसरी जगह लड़ रहा था। करुणा का पत्र पाते ही उसने युद्ध बन्द कर दिया और सेना लेकर चित्तोड़ की ओर लपका। परंतु उसके आने में देर होगई, और वह करुणा की रक्षा न कर सका। जब वह चित्तोड़ पहुँचा, उस समय तक दुर्गजीता जा चुका था। वीर बलि हो चुके थे। करुणा अपनी सहेलियों सहित चिता पर चढ़ चुकी थी, और दुर्ग पर यवन-पताका फहरा रहा थी। कुछ इतिहास लेखकों का यह कहना है कि हुमायूं जानबूझ कर चित्तोड़ समय पर नहीं पहुँचा। यदि वह चाहता तो दुर्ग की रक्षा कर सकता था। जब हुमायूं बहादुरशाह से लड़ने के लिये चित्तोड़ रवाना हुआ, उसका मार्ग में बहादुरशाह का एक पत्र मिला। उस में लिखा था कि मैं हिन्दुओं के विरुद्ध धर्म-युद्ध (जिहाद) में संलग्न हूँ, एक मुसलमान की हैसियत से तुम्हें इस समय मेरे धर्म-युद्ध में बाधा न डालनी चाहिए। पत्र पढ़ कर हुमायूं वहीं रुक गया और चित्तोड़ के युद्ध की समाप्ति की प्रतीक्षा करने लगा। कारण कुछ भी हो, परन्तु कम से कम यह तो तय है कि हुमायूं चित्तोड़ की रक्षा न कर सकता था।

अस्तु, जब करुणाने देखा कि किसी विशेष कारण से हुमायूं नहीं आ सका है, तो उसने सब सरदारों को फिर एकत्रित किया और बोली—"मेवाड़ के वीर शार्दूलो! आप लोगों ने बड़ी वीरता और दृढ़ता से शत्रुओं का सामना किया। इसको मैं ने अपनी आँखों से देखा है। तुम्हारे वीर कृत्यों की जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है। दो एक दिन में हमारी धन-सम्पत्ति शत्रुओं के हस्तगत हो जायगी, मातृभूमि पद-

दलित हो शत्रुओं को पैशाचिक लीलाओं से अपवित्र हो जायगी और दुर्ग पर यवन-पताका फहराती दीख पड़ेगी। परंतु यह मत समझना कि अन्त समय में मैं राजपूतों के नाम में बट्टा लगाऊँगी। आज कई माताओं का पुत्रों से, पत्नियों का पतियों से, बहिनों को भाइयों से विछोह होगया है; कई सुहागिनों के सुहाग लुट गये हैं; कई घर उजड़ गये हैं; कई आबाल वृद्ध बनिताओं ने भूख से तड़प २ कर प्राण त्याग दिये हैं। परन्तु तुम्हारे गौरव और हमारे सतीत्व की रक्षा होगई। इस से अधिक और क्या चाहिये !! कोई अब यह न कहेगा कि मुसलमानों ने राजपूत ललनाओं का सतीत्व भ्रष्ट किया और राजपूत युद्ध से भाग गये। भाइयो, अब जौहर की तैयारी करो जिस से तुम्हारी तरह हम भी अपने क व्य और धर्म का पालन कर सकें।

राणी के करुणा-पूर्ण शब्दों से राजपूतों का जी भर आया। उन्हों ने कहा कि उदयसिंह को किसी सुरक्षित स्थान में भेजने का आयोजन कीजिये। राणी ने उनकी ओर प्रेम भरी दृष्टि से देखा और बोली—"पुत्रो ! मेरी दृष्टि में उदयसिंह और तुम समान हो। मैं उस में और तुम में कोई भेद नहीं समझती। तुम जो उचित समझो वही करो; जहाँ उपयुक्त स्थान देखो वहीं उसे भेज दो।" उदयसिंह की अवस्था इस समय पाँच वर्ष की थी। वह किलकारी मारता हुआ आया और करुणा की गोद में चढ़, तोतली बोली में बोला–'माँ! मुझे तुम्हाले साथ मलने दो'। यह सुन कर माता की आँखों में आँसू भर आये और प्रेम विह्वल हो बोली—'नहीं बेटा ! तुम्हें राजा बनना है। जो राजपूत सरदार कहें, वही करो। परन्तु आज का दिन याद रखना और फिर से अपनी मातृ-भूमि का उद्धार करना।' रानी ने ये बातें

कड़ा हृदय कर कह तो दीं, परन्तु पुत्र से बिछड़ते समय उसकी क्या दशा हो रही थी, इसका अनुमान माता का हृदय ही कर सकता है। उसने बालक को गले लगालिया और फूट २ कर रोने लगी। वर्षा की नदी का रुद्ध स्रोत जैसे किसी ने खोल दिया हो,–स्रोत जो वेग नहीं मानना चाहता, रुद्ध नहीं होना चाहता और न लौटना ही चाहता है। आँसू और हृदय को वश में न होते देख, उसने हाथ से संकेत किया और पास वालों ने ज़बरदस्ती उदयसिंह को माता की गोद से खींच कर अलग कर दिया। वहाँ से कुछ सिपाहियों के साथ उदयसिंह बूंदी भेज दिये गये।

अब जौहर की तैयारियाँ होने लगीं। पहली बार अलाउद्दीन के कारण जौहर व्रत का पालन हुआ था। आज उसी के सहधर्मी बहादुरशाह ने फिर वह अवसर उपस्थित कर दिया। पद्मिनी की तरह आज करुणा भी असंख्य राजपूत महिलाओं की अग्रणी बन कर, शोक के गीत गाती हुई, लकड़ियों के गगन-चुम्बी ढेर पर बैठ गईं। धाँय, धाँय करती हुई चिता जलने और अग्नि शिखा आकाश को छूने का प्रयत्न करने लगी, और पल भर में रूप, यौवन, और लावण्य का अन्त होगया। कुछ भी शेष न रहा। यह दृश्य बड़ा ही रोमांचकारी, करुणास्पद और भयावह था। चटाचट का शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलने लगीं और धुआँ आकाश की ओर जाने लगा। मानो वह बहादुर-शाह की बर्बरता, धर्मान्धता और साथ ही राजपूत वीर-बालाओं के दुखप्रद, किन्तु उज्ज्वल, बलिदान की सूचना ईश्वर को देने जा रहा हो।

सब राजपूत निश्चिन्त होगये। क्षत्राणियों के अमूल्य धन सतीत्व की रक्षा होगई। उदयसिंह सुरक्षित स्थान पर

पहुँच गया। अब क्या चाहिये था? वीरगण मतवाले होकर बार २ सिंहनाद कर शत्रुओं के दिलों को दहलाने लगे। रण-भेरी फिर बज उठी और चमचमाती हुई नङ्गी तलवारें शत्रुओं का रक्त पीने को आकाश में घूमने लगीं। भूखे बाघ की तरह राजपूत मुसलमानों पर टूट पड़े और हज़ारों को तलवार के घाट उतार कर स्वयं भी कटे हुये धान की तरह रणक्षेत्र पर लोट गये।

प्रातःकाल बहादुरशाह गढ़ में घुसा। चित्तौड़ की गली गली में नर-रक्त बह रहा था। स्थान २ पर असंख्य शिर, हाथ, पाँव और लोहू लुहान मृतक देह पड़ी थीं। बाल प्रभाकर के अरुण प्रकाश में हज़ारों लाशें सूखे तालाब की मछलियों की भाँति पड़ी हुई दुनियाँ की तृष्णा पर हँस रही थीं। किसी का सर अलग था, कोई धड़ से कट गया था। कहीं पर अधमरे मनुष्य मृत्यु यंत्रणा का कठोर कष्ट सहते हुये कराह रहे थे। कोई बहादुरशाह को शाप दे रहा था तो कोई हृदय में छुरी भोंक कर इस यंत्रणा से मुक्त होना चाहता था। चित्तौड़ में इस समय हाय-तोबा मची हुई थी। ऐसा संहार देख कर भी पापी बहादुरशाह को दया न आई। उसने दुर्ग पर अपना झंडा गाड़ दिया। विजयोल्लास के बाजे बजने लगे। क़िले में आमोद प्रमोद और राग-रँग की धूम मचगई।

पन्द्रह दिन तक ऐसी ही धूमधाम रही। सोलहवें दिन समाचार मिला कि हुमायूँ चित्तौड़ की रक्षा के लिये आ रहा है। यह सुनकर बहादुरशाह पहले तो सिहर उठा, फिर सामना करने के लिये आगे बढ़ा। मन्दसोर के पास दोनों की सेनाओं

में महा भयंकर और लोम हर्षण युद्ध हुआ, जिस में बहादुरशाह की हार और हुमायूँ की विजय हुई। बहादुरशाह भाग कर माँडू गया। हुमायूँ ने वहाँ भी उसका पीछा कर उसे चैन से न रहने दिया। इस पर वह चंपानेर और खंभात होता हुआ ड्यू (Diu) के टापू में पुर्त्तगाल वालों के आश्रय में चला गया, जहाँ से लौटते समय समुद्र में वह मारा गया।

हुमायूँ और बहादुरशाह की इस दौड़धूप में राजपूतों ने एक छोटी सी सेना इकट्ठी करली और एक दिन चित्तौड़ में नियत की गई बहादुरशाह की सेना पर टूट पड़े, जिस से वह वहाँ से भाग निकली और दुर्ग पर फिर राजपूतो का अधिकार होगया।

यह सब कुछ हुआ, किन्तु हुमायूँ को इस से शान्ति फिर भी न मिली। समय पर पहुँचकर, करुणा की रक्षा न कर सकने का सदमा उसे सारी उम्र रहा। उस के मुंह से कभी २ निकल ही जाता था कि 'हाय ! मैं करुणा को न बचा सका', परन्तु—

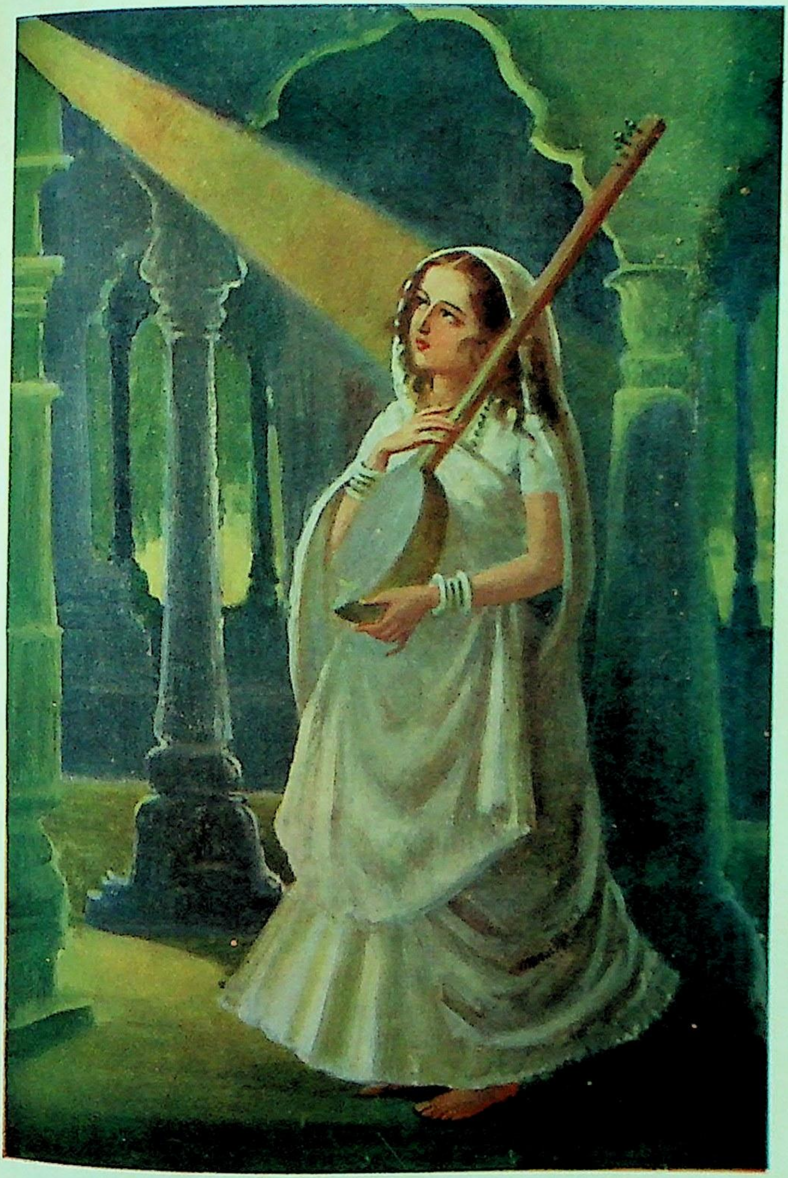
का वर्षा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछिताने।

तेरहवां अध्याय

भक्त शिरोमणि मीरा बाई

आज इस भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा अभागा हिन्दू मिलेगा, जिसने मीरा बाई का नाम न सुना हो। प्रत्येक मन्दिर, प्रत्येक घर और प्रत्येक देवालय और सन्त-समाज में मीरा के भजन बड़े ही आदर और भक्ति के साथ गाये, सुने और सराहे जाते हैं। मीरा के पद इस बात के भी उत्कृष्ट उदाहरण हैं कि मेवाड़ की राजपूत महिलाओं ने समय आने पर देश और धर्म की रक्षा के लिये अपना बलिदान तो किया ही, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी सहृदयता, काव्य प्रतिभा और रचना चातुर्य्य का परिचय दिया है। भारतीय और विदेशीय इतिहासकारों ने मुग़ल दरबारों और राजमहलों की वेश्याओं के नामों को तो गा गा कर अपनी पुस्तकों के पन्ने रंग डाले हैं, परंतु जिस हिन्दू ललना ने विष पीकर, घोर यातना और अत्याचार सहकर भी दूसरों के लिये प्रेम और परमार्थ का मार्ग खोल दिया, उसके इतिहास को शुष्क और नीरस समझ कर छोड़ दिया है। हा! यही इतिहास का मोल है !!

अस्तु, मीरा बाई जोधपुर के राठौड़ राव दूदा जी के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म सन् १४९८ ई० में कुड़की नामक ग्राम में हुआ था। उनके माता पिता के और कोई संतान न थी। इसलिये वे बड़े चाव से अपनी इकलौती कन्या मीरा का लालन-पालन करते, तथा उसी के सुख में अपना सुख



गिरधारीलाल, चाकसू राघोजी

और दुःख में दुःख समझते थे। मीरा की माता एक ऊँचे विचारों की धर्म परायणा महिला थी। मूर्ति पूजा और पूजा-पाठ पर उसका अटल विश्वास था। माता का प्रभाव बालिका मीरा पर भी पड़ा, और ऐसा पड़ा कि चार वर्ष की आयु से ही वह माता के साथ मन्दिरों में आने जाने तथा पूजा-सामग्री जुटाने में उसका हाथ बटाने लगीं।

एक दिन इनके घर एक साधु आया। उसके पास भगवान की एक सुन्दर मूर्ति थी। दो चार दिन के बाद जब साधु जाने लगा तो मीरा ने वह मूर्ति उस से लेनी चाही। मूर्ति बहुत ही सुन्दर बनी हुई थी और साधु बहुत दूर से उसे अपने साथ लाया था, इसलिये वह उसे न देना चाहता था। साधु की इच्छा मूर्ति को न देने की देख, मीरा ने रोना-झगड़ना शुरू किया, जिस से विवश होकर साधु को वह मूर्ति देनी पड़ी। मूर्ति देकर साधु ने कहा—"ये भगवान हैं, तू प्रति दिन प्रेम के साथ इनकी पूजा किया करना।" इस समय मीरा की अवस्था केवल सात वर्ष की थी। उस दिन से खेल-कूद और सखि-सहेलियों को छोड़ मीरा सच्चे मन से भगवान की सेवा में लग गईं। अब से उनका अधिक समय भगवान की मूर्ति को नहलाने, उस पर चन्दन-पुष्प चढ़ाने और सजाने में व्यतीत होने लगा। माता से एक दो पद सूरदास के इस समय मीरा ने सीख लिये थे। उन्हीं को गा गा कर वह गिरधर लाल को रिझाने लगीं।

मीरा जब छोटी ही थीं, इनके पिता राणा सांगा की ओर से लड़ते हुए, खानवा के युद्ध में काम आये। माता का देहावसान पिता से भी पहिले हो चुका था। इसलिये दादा पर इनके

पालन-पोषण का भार पड़ा। परन्तु वे भी वृद्ध थे; अधिक जीने की आशा उन्हें भी न थी। अतः १३ वर्ष की आयु में ही मीरा का विवाह राणा सांगा के पुत्र कुँअर भोजराज से कर राव दूदाजी ने अपनी ज़िम्मेदारी से छुट्टी ली। पर दैव से यह भी ठंडे दिल से न देखा गया। प्रारब्ध ने फिर ठोकर मार दी। विवाह के पाँच-सात वर्ष बाद ही भोजराज इस संसार से चल बसे। अब मीरा के लिये न कोई पीहर में था, न ससुराल में। एक मात्र दूदा जी रह गये थे, जो अपने पुत्र और भोज राज की मृत्यु के दुःख से दिन २ क्षीण होकर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। सुनसान जंगल में बैठी हुई एक बाल-निराश्रय हरिणी की तरह मीरा अकेली राजमहलों में अपने दिन काटने लगी। चारों तरफ़ संकट ही संकट देख दुःखिनी मीरा ने भगवान की शरण ली; बचपन के साथी गिरधर लाल का आश्रय लिया। मीरा की ईश्वर भक्ति की धारा जो इतने दिन तक सूक्ष्म और संकुचित रूप से वह रही थी, अब कुछ चौड़ी, कुछ गंभीर और कुछ वेगशील होकर प्रवाहित होने लगी।

इसी बीच में कविता करने का अभ्यास भी मीरा को होगया था। दो चार टूटे फूटे पद उन्हों ने बना भी लिये थे। एक बन्द कमरे में गिरधर लाल की मूर्ति के सामने बैठ, स्वरचित पदों को गाती हुई वह ईश्वर भक्ति में लीन होकर अपने आप को भूल जाती थीं। ध्यान में कभी उनकी आँखों से आँसुओं की धारा वहने लगती और शरीर पर पुलकावलि छा जाती थी। प्रेमोन्मत्त होकर वह कभी रोतीं, कभी हँसतीं, कभी नाचतीं और कभी ऊँची, मधुर और सुरीली तान से गाने लगती थीं। उन्हें न खाने पीने का ध्यान रहता, और न सोने अथवा आराम करने का।

कभी २ तो तीन चार दिन बिना अन्न जल के भगवान की मूर्ति के पास बैठे ही बैठे बीत जाते थे।

मीरा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ईश्वर भक्ति की चर्चा धीरे २ चारों ओर फैल गई। चित्तोड़ देखने के बहाने से साधु सन्त और यात्री मीरा के दर्शन करने के लिये आने लगे। कुटुम्बियों और जान पहचान वालों की परवाह न कर वह भी घर पर आये हुए साधुओं का सत्कार करने लगीं। उस समय मेवाड़ के सिंहासन पर विक्रमादित्य विद्यमान थे। यह एक इतिहास प्रसिद्ध बात है कि विक्रमादित्य एक अत्यंत ही स्वेच्छाचारी, क्रूर और तारीफ़ पसंद व्यक्ति थे। स्वार्थी लोग उन्हें खुश करने के लिये मीरा के विरुद्ध भड़काने लगे। इस से मीरा की भक्ति, कीर्तन और साधु समागम उन्हें असह्य हो उठा। मीरा को संसार से विदा करने की नई २ योजनाएँ उनके द्वारा होने लगीं। कहते हैं, राणा ने मीरा को यमलोक भेजने के लिये घातक भेजे। प्रभु का चरणामृत कह कर विष भेजा, सन्दूक में बन्द करके साँप भेजा, पर मीरा और उनकी भगवद् भक्ति का अन्त फिर भी न हुआ। भक्त मीरा ने इन कष्टों को अपनी भक्ति की कसौटी समझी। उनकी भक्ति तपाये हुए सोने की तरह कुन्दन हो चमकने लगी। पुण्य की विजय हुई और पाप की पराजय। मारने के लिये आये हुए घातक भक्ति प्रवाह में प्रवाहित बह गये। विष अमृत होगया; विषैला सर्प चन्द्रहार होगया।

भाँति २ के कष्टों, कटाक्षों और लाञ्छनों की बौछार को सहन करते हुये भी मीरा ने कुछ वर्ष चित्तौड़ ही में काटे। फिर वह तीर्थ यात्रा को चली गईं और मथुरा, वृन्दावन,

पुष्कर आदि तीर्थ स्थानों में होती हुई दो चार वर्ष बाद फिर चित्तौड़ लौट आईं। परन्तु कुटुम्बियों ने फिर उन्हें पहिले की तरह तंग करना शुरू किया। इस से वह यहाँ से द्वारिका चली गईं। मीरा के चले जाने से चित्तौड़ में भी साधु महात्माओं ने आना छोड़ दिया, और चारों तरफ़ अशान्ति, असन्तोष और कलह के चिन्ह दीख पड़ने लगे। इस से विक्रमादित्य के ज्ञान चक्षु खुल गये। उन्हें अब मालूम हुआ कि मीरा जैसे अमूल्य रत्न को खोकर उन्हों ने कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया। मीरा को फिर से चित्तौड़ में लिवा लाने के लिये राणा ने कई ब्राह्मणों को द्वारिका भेजा, और उन से कहलाया कि तुम्हारे बिना अब मेरा जीवित रहना असंभव है। वहाँ जाकर ब्राह्मणों ने तरह २ से मीरा को फुसलाया, पर मीरा ने एक न सुनी। उन्हों ने सर्वथा इन्कार कर दिया। इस पर अन्न-जल छोड़ कर ब्राह्मणों ने मीरा के द्वार पर धरना देना प्रारम्भ किया, और कहने लगे कि या तो मीरा को चित्तौड़ ले जायँगे या यहीं भूख प्यास से तड़प २ कर प्राण दे देंगे। भूखे ब्राह्मणों का द्वार पर तड़पना, सहृदया मीरा से न देखा गया। उन्हों ने कहा कि मैं अपने प्राणधार, गिरधर लाल से आज्ञा माँगती हूं। यदि आज्ञा मिलगई तो तुम्हारे साथ चलूंगी। इतना कह कर वह रणछोड़ के मन्दिर में घुसीं, और गिरधर लाल की मूर्ति में समागईं। दो चार दिन हो गये, फिर भी जब मीरा बाहर न निकलीं तो लोगों को बड़ा अचंभा हुआ, और मन्दिर के किवाड़े खोल-कर भीतर झाँकने लगे। परन्तु वहाँ कुछ भी न था। गिरधर-लाल की मूर्ति पर मीरा की एक साड़ी मात्र पड़ी हुई थी। जो लोग मीरा की भक्ति को ख़ाली दिखावा समझते थे, वे भी इस

घटना को देख चकित रह गये। मीरा की अटूट भक्ति और निश्छल प्रेम पर उन्हें भी विश्वास होगया। बिचारे ब्राह्मणों को हताश होकर हाथ लटकाये हुए घर लौटना पड़ा।

मीरा केवल भक्त ही न थीं, वह कवि भी थीं। उनके लिखे हुये कई ग्रन्थ कहे जाते हैं। जैसे नरसी का मायरा, राग गोविन्द, राग सोरठ आदि। परन्तु स्फुट पद ही विशेष कर मिलते हैं, और इन्हीं के कारण मीरा का भक्तों में इतना आदर भी है।



अंधे कवि सूरदास

मीरा के पद साहित्यिक दृष्टि से बहुत ऊँचे नहीं हैं, परन्तु सरल, सरस, स्वाभाविक भक्ति और भावपूर्ण होने के कारण एक भक्त हृदय को मुग्ध करने के लिये वे फिर भी बेजोड़ हैं। कृष्ण भक्ति में अंधे कवि सूरदास को कोई नहीं पा सकता; उनकी

कविता इस दृष्टि से अतुलनीय है। सूरदास वास्तव में हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य हा हैं। सूर की कविता में यद्यपि प्रेम रस की बाढ़ आ गई है, और गोपियों के तथा यशोदा के मुख से उन्हों ने जो पद कहलाये हैं, उन में उन्हों ने नारी हृदय को निकाल कर बाहर रख दिया है। पर मीरा के दो चार पदों में जो रस है, वह उन में भी नहीं पाया जाता। मीरा के जीवन का क्या उद्देश्य था? उसका वर्णन उन्हों ने इस प्रसिद्ध पद में किया है, जो प्रत्येक भारत वासी के हृदय में आज भी ईश्वर भक्ति उत्पन्न करता है—

म्हांने चाकर राखो जी; गिरधारीलाल चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ; नित उठ दरसन पासूं।
वृन्दावन की कुञ्ज गलिन में, गोविंद लीला गासूं।१।
चाकरी में दरसन पाऊं, सुमिरन पाऊं खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊं; तीनों बातां सरसी।२।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, गल बैजन्ती माला।
वृन्दावन में धेनु-चरावे, मोहन मुरली वाला।३।
ऊंचे ऊंचे महल बनाऊं, बिच बिच राखूं बारी।
सांवरिया के दरसन पाऊं, पहिर कुसम्भी सारी।४।
जोगी आया जोग करन कूं, तप करने सन्यासी।
हरी भजन कूं साधू आये, वृन्दावन के वासी।५।
मीरां के प्रभु गहिर गंभीरा, हृदय रहो जो धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हौ, जमुना जी के तीरा।६।

चौदहवां अध्याय

वीर धात्री पन्ना

हुमायूँ की वजह से चित्तौड़ का राज्य एक बार फिर विक्रमादित्य को मिल गया। पर उस भले आदमी ने गत विपत्तियों से कोई शिक्षा ग्रहण न की। जिस निष्ठुरता और उच्छृङ्खलता से वह पहले अपने सरदारों के साथ व्यवहार करता था, उस में तिल मात्र भी कमी उस ने न की, बल्कि उलटी वृद्धि ही की। सरदार इस से बड़े दुःखी हुए। कुछ दिनों तक तो उन्हों ने धैर्य के साथ सब प्रकार के कष्टों और आपत्तियों का सामना किया, परन्तु अन्त में उनके धीरज का बाँध टूट गया, और सब ने मिल कर कुंवर पृथ्वीराज की उप पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र वणवीर को चित्तौड़ के राज्य सिंहासन पर बैठने के लिये आमंत्रित किया। पहले तो वणवीर सरदारों के इस प्रस्ताव से सहमत न हुआ। न्यायानुमोदित उत्तराधिकारी को गद्दी से उतार कर उसके सिंहासन पर अपना अधिकार करना, उसने एक महा भयंकर और अधार्मिक कर्म समझा। परंतु फिर मेवाड़ की दुर्दशा, सरदारों का आग्रह और प्रजा का दुःख देख, वह राज्य-भार ग्रहण करने को तैयार होगया।

राज्य सिंहासन पर बैठ कर मनुष्य एक अद्भुत मोहिनी के वशीभूत होजाता है। राज्याधिकार के लोभ में पड़ कर बंधु बंधु

पर, पुत्र पिता पर और सेवक स्वामी पर छुरी चलाने को तैयार हो जाता है। जो वणवीर पहले राज मुकुट को निरी बला समझता था, आज वही निष्कंटक राज्य लक्ष्मी भोगने की इच्छा से रक्त की सरिता बहाने को आतुर हो उठा। प्रधान कंटक उसके मार्ग में संग्रामसिंह का छः वर्ष का बालक उदयसिंह था। वणवीर रात-दिन सोचा करता था कि जब तक मेवाड़ के राज्य सिंहासन के एक मात्र कंटक उदयसिंह की हत्या न की जायगी, तब तक मेरा अधिकार सुरक्षित नहीं है। अतः उसने इस कांटे को निकाल कर दूर फेंकने की ठान ली। बालक उदयसिंह की धाय का नाम पन्ना था। वह खीची राजपूत कुल की वीर कन्या थी। उसके भी एक छः वर्ष का पुत्र था। इन्हीं के लालन-पालन में पन्ना अपना समय व्यतीत करती थी। दोनों बालकों के खेल-कूद और बाल चापल्य को देख वह अपने जीवन को सफल और गौरवान्वित समझती थी।

एक रात्रि को सोते हुए बालक उदयसिंह के पास बैठी हुई पन्ना पखा झल रही थी। प्रकृति शान्त रूप धारण कर चुकी थी। राज प्रासाद में बिलकुल सन्नाटा था। कहीं चूं का शब्द भी सुनाई न देता था। हाँ, कभी २ बाहर से कुत्तों की बोली शान्ति को भंग करती हुई अवश्य सुनाई देती थी। इतने में राज-महल की ओर से किसी के रोने का शब्द सुनाई दिया। इस आर्त्तनाद को सुन कर पन्ना उठना ही चाहती थी कि इतने में एक बारी जूठन उठाने के लिये आया, और भय मिश्रित भाव से कहने लगा—"बड़ा ही अनर्थ हुआ। वणवीर ने विक्रमा-दित्य को मार डाला, और उदयसिंह का भी काम तमाम करने को इधर ही आ रहा है।" यह सुन कर पन्ना की देह

पीपल के पत्ते की तरह काँप उठी। उसने सोचा क्या कुमार उदयसिंह की हत्या पामर, पुण्य विहीन वणवीर के हाथ से होगी? क्या मेरे सामने गुहिल वंश का नाश होगा? क्या आँखें फाड़ फाड़ कर छाती पर पत्थर रखकर, इस दृश्य को मैं देखूँगी? नहीं; कदापि नहीं! मैं यह कभी न होने दूँगी। उदयसिंह के रहने से देश, धर्म और वंश का भला होगा, परंतु मेरे पुत्र के लिये संसार में दासत्व को छोड़ और कुछ नहीं है। बस, आज मैं अपने पुत्र का जीवन लुटा कर स्वामी की रक्षा करूँगी।

कमरे के कोने में फलों की एक टोकरी पड़ी हुई थी। पन्ना ने कुमार को उस टोकरी में लिटा दिया और उसे यत्न पूर्वक फलों तथा पत्तों से छिपा कर बारी से उस टोकरी को उठा कर जल्दी से दुर्ग के बाहर निकल जाने को कहा। उसने ऐसा ही किया। इधर पन्ना ने अपने पुत्र को उदयसिंह के कपड़े पहना दिये, और उसे कुमार की जगह पलंग पर लिटा दिया। पन्ना का शरीर भय से थरथरा रहा था। वह अपने पुत्र का मुँह बार २ चूमने लगी। इतने में कमरे के बाहर किसी के पाँवों की आहट सुनाई दी। पन्ना पलँग से दूर एक कोने में खड़ी होगई। एक मिनट के बाद रुधिर से अपने हाथ और तलवार को लाल किये हुए वणवीर वहाँ आ पहुँचा और कड़क कर बोला— "उदयसिंह कहाँ है?" भय के मारे पन्ना श्वेत वर्ण होगई। उसका कंठ सूख गया, और वह कुछ उत्तर न दे सकी। दो बूँद आँसू डालकर, काँपते हुए हाथों से उसने कुमार की शय्या की ओर संकेत कर दिया। वणवीर विद्युत-वेग से उसी ओर लपका। दीपक के मंद प्रकाश में रक्त रञ्जित तलवार चम-

चमा उठी, और दूसरे ही क्षण में बालक की छाती को पार कर बाहर निकल आई। बालक ने एक धीमी सी चीख़ मारी। वह थोड़ा छटपटाया और फिर उस अभागिनी माता को छोड़ सदैव के लिये चल बसा। बच्चे के निर्दोष रक्त के छींटों से दीवार लाल होगई, शय्या लाल होगई, और पापी वणवीर की तलवार लाल होगई। दूर खड़ी हुई माँ के वस्त्र भी अछूते न रहे। उदयसिंह को मरा जान कर रनिवास के लोग दौड़े हुए आये, और फूट २ कर रोने तथा हाय-हाय मचाने लगे। किसी को यह मालूम न हुआ कि पन्ना ने अपने पुत्र का बलिदान देकर राजवंश की रक्षा की है।

प्राण सम पुत्र को खोकर, पन्ना उस विश्वासी बारी की तलाश में क़िले के बाहर निकली। बारी चित्तौड़ की सीमा से कुछ दूर जन विहीन जंगल में बैठा हुआ पन्ना की प्रतीक्षा कर रहा था। वह जब वहां पहुँच गई तो उसके जी में जी आया। अधिक विलम्ब न कर दोनों वहां से चल पड़े और देवलिये के रावत रायसिंह के पास पहुँचे। रावत ने इन दोनों के साहस की बड़ी प्रशंसा की, सहानुभूति भी खूब दिखलाई, परन्तु वणवीर के भय से उदयसिंह को अपने यहाँ आश्रय प्रदान न किया। इसलिये वे डूङ्गरपुर के रावल आशाकरण के पास गये। परन्तु उसने भी कुछ न कुछ बहाना निकाल कर उन्हें वहां से रवाना कर दिया। भटकते २ ये लोग कुंभलमेर पहुंचे। उस समय आशादेपुरा वहाँ का क़िलेदार था। पन्ना ने कुमार उदयसिंह को आशा शाह की गोद में रख दिया और बोली—'अपने मालिक के प्राणों की रक्षा कीजिये।' आशा शाह को दया आगई, परन्तु वणवीर को अपना शत्रु बनाना उसे भी स्वीकार न था। वह असमंजस में पड़ गया। उसने बड़ी उदासी से पन्ना के मुँह

की तरफ़ देखा और अपनी निःसहायता तथा लाचारी प्रकट करने ही को था कि इतने में उसकी माता ने कहा—"बेटा, कर्तव्य पालन करने में किसी दूसरे से पूछने-ताछने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रजा का कर्तव्य है कि अपने राजा का संकट दूर करने के लिये अपने आप को मिटा दे। उदयसिंह तेरा राजा है; तेरे जीवन और ऐश्वर्य्य का स्वामी है। इसके महाप्रतापी पिता, राणासांगा के कारण तू आज इस पद पर पहुँचा है। भविष्य में किसी प्रकार के अनिष्ट के होने की कल्पना और संभावना कर अपने कर्तव्य से विमुख मत हो।" माता के नीति और न्यायपूर्ण शब्दों से आशा शाह की कायरता दूर होगई। उसने उदयसिंह को अपना भतीजा कह कर जन साधारण में प्रसिद्ध किया, और बड़े यत्न से उसका लालन-पालन करने लगा। पन्ना की मनोकामना पूरी हुई। कुंभलमेर में उसे कोई पहिचानता न था। कदाचित् एक अपरिचित स्त्री के वहाँ रहने से किसी को संदेह हो, यह सोचकर वह शीघ्र ही वहाँ से चित्तौड़ के लिये लौट पड़ी।

इस प्रकार सभी कठिनाइयों को पार कर वीर धात्री पन्ना ने राणा वंश के एक मात्र उत्तराधिकारी उदयसिंह की रक्षा कर अपना नाम इस संसार में अमर कर दिया। जब तक पृथ्वी पर राजपूतों का नाम रहेगा, उनका इतिहास रहेगा, उनके बलिदानों की चर्चा रहेगी, तब तक पन्ना का पवित्र नाम भी उनके साथ लिया जावेगा।

पन्द्रहवां अध्याय

महाराणा उदयसिंह

उदयसिंह की मृत्यु से अपना पथ निष्कंटक हुआ समझ, वणवीर अब सरदारों को अपने वश में करने के लिये उन पर अत्याचार पर अत्याचार करने लगा। फल यह हुआ कि चित्तौड़ के सब सरदार और दरबारी उसके विरुद्ध होगये। विक्रमादित्य को गद्दी से उतार कर वणवीर को मेवाड़ का शासन कर्त्ता नियत करते समय सरदारों ने सोचा था कि उनके इस परिवर्तन से देश का सुधार और उनके संकट का निवारण हो जायगा। परंतु उनकी सब आशाएँ आकाश-कुसुम की तरह अलीक होकर रहगईं। उन्हें अब मालूम हुआ कि अकुलीन और राज्य लोभी वणवीर को गुहिल वंश के सिंहासन पर बिठा कर, उन्हों ने कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया, बल्कि उल्टी बला मोल ले ली है। विक्रमादित्य का मेवाड़ की गद्दी पर जन्मसिद्ध अधिकार था। इसलिये वह बुरा भला, जैसा भी व्यवहार उनके साथ करता, उसे वे सहन करते थे। परन्तु एक अभिमानी, अकुलीन और राज्य-मद से मतवाले दासी पुत्र की धींगा धींगी वे सहन न कर सके और खुल्लमखुल्ला उसका अपमान और उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर उतारू होगये।

राज महल में एक दिन दावत हुई। वणवीर और समस्त सरदार उस में सम्मिलित हुए। सब लोग अपनी प्रतिष्ठा और पद के

अनुसार अपने २ स्थान पर बैठे हुए भोजन कर रहे थे। इसी समय अपने थाल में से थोड़ी सी जूठी मिठाई उठा कर वणवीर ने कोठारिया वालों के पूर्वज रावत खान को दी और कहा कि तुम भी इसे खाकर देखो, स्वाद अच्छा है। दासी पुत्र का जूठा खा कर अपना धर्म भ्रष्ट करना, रावत खान को मंजूर न था। इसलिये अधिक खाने की रुचि न होने का बहाना कर उसने वणवीर की बात टाल दी। परंतु वणवीर भी सीधी तरह से मान वाला मनुष्य न था। उसने कहा कि यह तो तुम्हारा बहाना है। मुझे अकुलीन जानकर तुम मुझ से परहेज़ और घृणा करते हो, और यही कारण है कि तुम मेरे हाथ से स्पर्श की हुई मिठाई खाना नहीं चाहते। इसके उत्तर में रावत खान ने कहा कि मैं ने तो अपने मुंह से ऐसी ओछी बात नहीं कही। आप स्वयं जब ऐसा कहते हैं, तो बात भी ठीक ही है। रावत के मुँह तोड़ जवाब से वणवीर जल भुन कर ख़ाक होगया, और लाल २ आँखें निकाल कर, दाँत पीसता हुआ उसकी तरफ़ देखने लगा। लेकिन उसके क्रोध की कुछ भी परवाह न कर रावत खान अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ और सीधा कुंभलगढ़ चला गया।

उदयसिंह के गुप्त रूप से वहाँ रहने की सूचना पहले ही उसे मिल चुकी थी। वहाँ पहुँच कर वणवीर का सारा कच्चा चिट्ठा उसने आशा शाह से कह सुनाया और कहा कि उदयसिंह को अब अधिक दिनों तक छिपा रक्खा तो देश बरबाद हो जायगा। दूसरे ही दिन मेवाड़ के बड़े २ सरदारों के पास कुंभलगढ़ में आने का निमंत्रण भेजा गया। जब सब सरदार आगये तो आशाशाह ने उदयसिंह को सब के सामने उपस्थित किया और किस तरह से वणवीर की क्रोधाग्नि में अपने पुत्र की आहुति देकर

16

पन्ना ने उन के प्राणों की रक्षा की, उसका भी हृदय-स्पर्शी वर्णन सब से कह सुनाया। आशा शाह की बात पर पहले तो किसी को विश्वास न हुआ। परन्तु पन्ना ने स्वयं जब अपनी दुःख भरी कहानी का विवरण सामने रक्खा, तो सब के रोमांच खड़े होगये और सबका संदेह भी दूर होगया। उसी दिन सरदारों ने उदयसिंह का राजतिलक किया। दो चार दिन राज्याभिषेक की धूम धाम रही। फिर एक सेना लेकर उदयसिंह वणवीर को दण्ड देने के लिये कुंभलगढ़ से रवाना हुए।

उदयसिंह के राज्याभिषेक की ख़बर जब वणवीर के पास चित्तौड़ में पहुँची, उसे बड़ा अचम्भा हुआ। यह ख़बर उसके लिये पहेली होगई। यदि उदयसिंह की हत्या का काम उसने किसी दूसरे को सौंपा होता तो बात दूसरी थी। उसने तो अपने हाथ से छुरी भोंक कर यह पुण्य कमाया था, और अपनी आँखों से बालक को तड़प कर–चीख़ मार कर–प्राण विसर्जन करते देखा था। फिर वह कौनसा मंत्र था जिस के बल से उदयसिंह पुनर्जीवित होगया? उसे घोर दुःख और निराशा हुई। अपने राज्य को चिरस्थायी रखने के लिये विचारा वणवीर दिन रात भगवान श्री एकलिंग जी के नाम का जप किया करता था, परन्तु संकट के समय उन्हों ने भी सहारा न दिया! वणवीर बड़ी दुविधा में पड़गया। वह इस ख़बर के सम्बन्ध में न हाँ कह सका न ना। समय, अतीत को दुहराने और उस पर पश्चाताप करने का न था। इसलिये उसने डंका पीटना शुरू किया कि उदयसिंह के जीवित होने की बात सत्य नहीं, झूठ है। परन्तु अरण्य रोदन की तरह उसकी बात किसी ने न सुनी। इतने में फिर ख़बर आई कि उदयसिंह सेना लेकर बहुत

पास आ चुके हैं। इस पर सब प्रकार के संकल्प-विकल्प को छोड़कर वणवीर उदयसिंह का सामना करने की इच्छा से सेना सहित चित्तौड़ से निकला। माहोली के पास दोनों की सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। दोनों तरफ़ के कई वीर हत-आहत हुए। अन्त में वणवीर की सेना हारगई और वह वहाँ से ऐसा भागा कि आज तक उसका पता न लगा।

चित्तौड़ पहुँच कर उदयसिंह ने राज्य-सिंहासन को अलंकृत किया। कई वर्षों के बाद आज मेवाड़ की प्रजा को सुख की साँस लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसके अनन्तर बीस-बाईस वर्ष तक कोई विशेष घटना न हुई। सन् १५५९ में सिंहासन पर बैठने के बाईस वर्ष बाद, महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के पुत्र हुआ। इस अवसर पर वे (उदयसिंह) अपने इष्टदेव श्री एकलिंग जी के दर्शन करने के निमित्त कैलाश पुरी गये और वहाँ से लौटते समय आखेट के हेतु आहाड़ की तरफ़ मुड़े। मार्ग में उन्हें बेड़च नदी मिली, जिसका कलकल नाद करता हुआ स्वच्छ सलिल पहाड़ों से निकल कर मैदान में बह रहा था। आस पास की हरियाली और नैसर्गिक शोभा को देख महाराणा का मन मुग्ध होगया, और उन्हों ने अपने सरदारों से कहा कि चित्तौड़ एक पहाड़ी पर स्थित है, इसलिये जब कोई शत्रु आकर उसे घेरलेता है तब बड़ी असुविधा होती है। बाहर से खाद्य पदार्थों के न आ सकने के कारण और दुर्ग-रक्षकों के भीतर क़ैद हो जाने से, कभी २ बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि इन पहाड़ों में राजधानी बसाई जाय तो भविष्य में इस प्रकार की बाधाएँ नहीं रहेंगी। राणा की इस सूझ की साथियों ने बड़ी प्रशंसा की, और सब की सलाह से उन्हों ने वहाँ शहर

बसाना शुरू किया और महल भी बनवाये, जिनके टूटे फूटे अवशेष आज भी 'मोती महल' के नाम से प्रख्यात हैं। इसके कुछ दिन पश्चात् महाराणा को पीछोला तालाब के पास एक साधु मिला, जिसने कहा कि यदि तुम इस स्थान पर शहर



उदयपुर शहर का एक दृश्य

बसाओगे तो तुम्हारे गौरव की दिन २ बढ़ती होगी और मेवाड़ पर हमेशा के लिये तुम्हारे वंशजों का आधिपत्य बना रहेगा। इस पर महाराणा ने पहले का स्थान छोड़, साधु की बताई हुई जगह पर शहर बसाना शुरू किया। धीरे २ बढ़ कर उस शहर ने आधुनिक उदयपुर का रूप धारण कर लिया, जिसकी प्राकृतिक छटा और रमणीयता को देखने के लिये संसार के कोने २ से लोग आते और मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए, अपनी आँखों को तृप्त कर के घर लौटते हैं।

उदयपुर के संस्थापक महाराणा उदयसिंह के समय में इसका यह रूप न था। उस समय तो वह पूरी तरह से बसा भी न था। इसलिये महाराणा कभी कुंभलगढ़ और कभी चित्तौड़ में ही रहते थे। एक दिन राणा जी गोगूंदा गाँव में आये और अस्वस्थ होने के कारण कुछ दिन वहीं रहे। वहीं सन् १५७२ ई० की २८ वीं फरवरी को उनका देहान्त होगया।

मरते समय महाराणा ने एक घोर अनुचित कार्य किया। वह यह कि अपने पुत्रों में झगड़े का बीजारोपण कर गये। मेवाड़ में नियम है कि पिता की मृत्यु के पीछे राज्य का अधिकारी उसका सब से बड़ा पुत्र होता है। महाराणा उदयसिंह ने इस परंपरागत प्रथा का उल्लंघन किया। राज्याधिकार बड़े पुत्र प्रताप को न देकर, उन्हों ने अपने छोटे पुत्र जगमाल को दिया। जब राणा जी को जलाने ले गये तब तक तो जगमाल ही गद्दी पर बैठे रहे, परन्तु वहाँ से आने पर सब सरदारों ने मिल कर प्रताप को गद्दी पर बैठा दिया और जगमाल से कहा कि आपको भ्रम हुआ है; इस आसन पर बैठने का अधिकार आपको नहीं, प्रताप को है। आपकी बैठक गद्दी के सामने है। अतएव आपको वहाँ बैठना चाहिये। इस पर अप्रसन्न होकर जगमाल वहाँ से चला गया और मुग़ल सम्राट अकबर से जा मिला। सब सरदारों ने प्रतापसिंह को नज़राना किया और गोगूंदे से कुंभलगढ़ गये, जहाँ उनके राज्याभिषेक का उत्सव बड़े समारोह और धूम धाम से मनाया गया।

सोलहवां अध्याय

वीर जयमल और पत्ता

(चित्तौड़ का तीसरा शाका)

मुग़ल सम्राट अकबर का ख़याल था कि खानवा के युद्ध में और उसके अनन्तर बहादुरशाह के साथ लड़ते समय जो भारी हानि मेवाड़ को उठानी पड़ी है, उस से संभलने में उसे कई वर्ष लगेंगे। वह समझता था कि मेवाड़ के अच्छे दिन अब बीत गये, परन्तु यह उसका भ्रम था। राजपूत शक्ति का वास्तविक पता उसे उस समय लगा, जब उदयसिंह ने गद्दी पर बैठने के चार वर्ष के अन्दर ही अपनी समस्त पैतृक सम्पत्ति शत्रुओं के हाथ से छीन ली। अकबर को इस से बड़ा आश्चर्य हुआ और उदयसिंह की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की इच्छा से उसने चित्तौड़ पर धावा करने का निश्चय किया। बहाना भी शीघ्र मिल गया। उदयसिंह ने मालवा के हाकिम बाज़-बहादुर को, जो अकबर के डर से भाग आया था, अपने यहाँ शरण दी थी। इसी बहाने से अकबर सन् १५६७ में चित्तौड़-विजय को निकला, और शिवपुर, कोटा, मँडलगढ़ आदि के दुर्गों को जीत कर उसने चित्तौड़ के चारों ओर घेरा डाल दिया।

टिड्डी-दल की तरह उमड़ी हुई असंख्य मुग़ल सेना से चित्तौड़ को घिरा हुआ देख, उदयसिंह ने अपने सरदारों की

सभा कर उन से पूछा कि किस तरह इस संकट का सामना करना चाहिये। बहुत देर तक बहस होती रही। अन्त में सब ने इस बात पर ज़ोर दिया कि राणा का सकुटुम्ब यहाँ से चला जाना ही उचित होगा; क्योंकि अकबर का कटक बहुत भारी है और राजपूत दूसरे शत्रुओं से लड़कर अपनी अधिकांश शक्ति ख़र्च कर चुके हैं। राणा को सरदारों की राय माननी पड़ी। चित्तौड़ रक्षा का भार बदनोर के जयमल और आमेट के वीर पत्ता को सौंपकर वे कुछ सरदारों को साथ ले, अरावली की पर्वत मालाओं में चले गये। क़िले की रक्षा के निमित्त केवल आठ हज़ार राजपूत वीर पीछे रहे।

अकबर उदयसिंह को अपने आधीन करने की इच्छा से मेवाड़ में आया था। इसलिये उसने जब सुना कि उदयसिंह दुर्ग में से निकल कर चले गये हैं तो उसे बड़ी निराशा हुई और अब सुरङ्ग लगाकर क़िले को तोड़ने का प्रयत्न करने लगा। सुरङ्गों के बनवाने में अकबर के प्रति दिन हज़ारों रुपये ख़र्च होते और औसत से दो सौ मज़दूर प्रति दिन प्राण गंवाते थे, जिन की लाशें दीवारों में चुन दी जाती थीं। धन के लालच से नये नये मज़दूर फिर आ जाते थे। ज़बरदस्ती किसी के साथ नहीं की जाती थी। दो-तीन सप्ताह में दो बड़ी सुरङ्गें तैयार हो गईं। एक में १२० मन और दूसरी में ८० मन बारूद भरने के बाद एक सुरङ्ग में आग लगा दी गई, जिस से दुर्ग की दीवार उड़ गई और उसी के साथ ५० राजपूत वीर पतगों की तरह आकाश में उड़ने लगे। थोड़ी देर बाद चारों ओर जब शान्ति हुई, मुगल सेना प्राचीर के भग्न भाग में से भीतर घुसने का उद्योग करने लगी। उधर से राजपूत भी आगये।

दोनों दलों में मार काट हो रही थी कि इतने में अचानक दूसरी सुरंग भी उड़ी। दो सौ मुग़ल सिपाही और कुछ राजपूत वीर फिर स्वाहा हुए। सुरंग फटने का भयंकर नाद ५० कोस तक चारों ओर सुनाई दिया। पत्थरों के बड़े २ खंड कई कोसों तक उड़ गये और मनुष्यों के समूह के समूह नष्ट होगये।

इधर अकबर की सेना दुर्ग को तोड़ने का भरसक प्रयत्न कर रही थी, परन्तु असावधान राजपूत भी न थे। जहाँ कहीं तोपों से दीवार टूट जाती, वे रुई, तेल, लकड़ी जलाकर शत्रुओं को भीतर आने से रोकते थे। यदि मौक़ा हुआ तो थोड़ी बहुत मरम्मत भी करवा लेते थे। एक रात्रि को जयमल मशाल जला कर दीवार की मरम्मत करवा रहा था कि अकबर ने ताक कर बन्दूक़ मारी जिस से वह लंगड़ा होगया। जयमल के बेकाम होते ही राजपूतों का साहस ढीला पड़ गया और उन्हों ने अपने बच्चों और स्त्रियों को जौहर करने की आज्ञा दे दी। फिर क्या था? क़िले के भीतर से अग्नि की लाल २ ज्वालाएँ निकलने लगीं। इसका कारण पूछने पर आमेर के राजा भगवान दास ने अकबर से कहा कि अब होशियार हो जाइये, राजपूतों ने जौहर कर डाला है, कल क़िले के फाटक खुलेंगे।


वीर जयमल

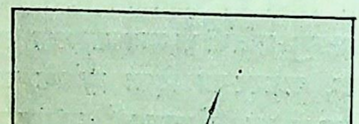
राजपूतों ने यह जौहर चित्तौड़ में तीसरी बार किया था। क्षत्रियाणियों के अतिरिक्त इस वक्त छोटे छोटे दुध मुँहे बालक और बालिकाएँ भी अग्नि की भेंट हुईं। पुत्र से विदा लेकर चिता पर चढ़ते समय पत्ता की माँ उसे उपदेश देने लगी—

"बेटा, मेवाड़ की रक्षा का भार अब तुम्हारे ऊपर है। एक २ कर सब राजपूत युद्ध में काम आ चुके हैं। दुर्ग में अब न तो अधिक अस्त्र-शस्त्र हैं, और न खाद्य सामग्री ही। जयमल की टांग टूटने से राजपूतों का रहा सहा साहस भी जाता रहा है। समस्या बड़ी विकट है। चारों ओर निराशा का घटाटोप छाया हुआ है। मुग़ल क़िला लिया ही चाहते हैं। चित्तौड़ की रक्षा का कोई उपाय नहीं। परन्तु क्षत्रियों के मान की रक्षा तुम फिर भी कर सकते हो। बेटा, अकबर को दिखा दो कि रण-कौशल, साहस और वास्तविक वीरता किसे कहते हैं। अकबर को बतलादो कि राजपूत प्राण देकर भी अपने धर्म, अपने मान और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते हैं, और एक विदेशीय, विजातीय, हिन्दुओं के गौरव को मिटाने वाले सम्राट के समक्ष, चाहे वह कितना ही प्रतापी और पराक्रमी क्यों न हो, नतमस्तक होने में अपना अपमान समझते हैं। बेटा, तुमने एक क्षत्रियाणी के उदर से जन्म लिया है। इसलिये कल अपनी रजपूती का जौहर बतला कर और दुश्मनों के दाँत खट्टे कर के संसार से विदा लो।" माता के शब्दों से पत्ता की रग २ में वीर रस उमड़ आया और उसने प्रतिज्ञा की—'माता, ऐसा ही होगा।'

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही अकबर की सेना ने दुर्ग पर हमला किया। राजपूतों ने भी दुर्ग के द्वार खोल दिये और भूखे भेड़ियों की तरह मुग़लों पर टूट पड़े। 'हर हर महादेव,' 'एक-

17

लिंग जी की जय' और 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि से व्योम फटने लगा। जयमल की टांग टूटी हुई थी और वह इस योग्य न था कि अपनी पूरी शक्ति से लड़ता; फिर भी देश के नाम पर मिटने के लिये जब वह सब से आगे आया तो उसके साथी राजपूतों को दया आगई, और उसे लौट जाने को कहा। परंतु वह कहाँ मानने वाला था? वह तो अपने जीवन को देश के लिये समर्पित कर चुका था। उसने किसी की न सुनी और लड़ने को आतुर हो उठा। इच्छा होते हुए भी लड़ने में असमर्थ देख, जयमल के कल्ला नामक एक सम्बन्धी ने उसे अपने कंधे पर बिठा लिया और कहा कि अब लड़ कर अपनी उत्कट लालसा पूरी करो। दोनों ने नंगी तलवारें हाथों में लेलीं और लड़ते हुए हनूमान और भैरव पोल के बीच में मारे गये। जयमल के मरते ही पत्ता को क्रोध आगया और वह अब भयङ्करता से युद्ध करने लगा। उसके साथ साथ दूसरे राजपूत भी सिंहवत् लड़ने लगे। तोपें गरजने, उन्मत्त सैनिक चिल्लाने, हाथी चिंघाड़ने और घायल वीर कराहने लगे। पत्ता के



वीर पत्ता

खड्ग-प्रहार से अपनी सेना को क़ाफ़ूर की तरह उड़ते देख अकबर

के होश उड़ गये। उसी वक्त उसने सिखलाये हुए हाथियों को छोड़ देने का हुक्म दिया, जो कुचल २ कर राजपूतों का संहार करने लगे। मुग़ल सिपाहियों को छोड़ राजपूतों ने भी हाथियों की सूंडें और दाँत काट २ कर गिराना प्रारंभ किया। कई हाथी मारे गये और कई दोनों तरफ़ के योद्धाओं को कुचलते हुए प्राण लेकर भाग निकले। इसी दौड़ धूप में एक हाथी ने पत्ता को सूंड से पकड़ ज़मीन पर दे मारा, जिस से वहीं मर कर वह वीर गति को प्राप्त हुआ।

सवेरे से तीसरे पहर तक यह युद्ध होता रहा, और जब कोई राजपूत न रह गया, तब बन्द हुआ। अकबर को रोकने वाला अब कोई न रहा। रक्त की नदियों को पार करता, लोहू के कीचड़ में अपने पाँवों को भिगोता और रुण्ड मुण्डों को ठुकराता हुआ वह दुर्ग के अंदर गया। क्रोध में आकर उसने क़त्ले आम और सुन्दर राजमहलों तथा श्वेत अट्टालिकाओं को गिराने का हुक्म दे दिया। जिन नगाड़ों के व्योम-भेदी नाद से चित्तौड़ के राजा का आना जाना सूचित होता था, जो अमूल्य दीवट भगवती चतुर्भुजी देवी के मंदिर को अलंकृत करती थी और सुन्दर किवाड़, जो दुर्ग के द्वार पर लगे हुए थे, उन सब को सम्राट ने अपने भावी अकबराबाद (आगरा) को सजाने के लिये भेज दिया। तीन दिन तक बादशाह वहीं रहा। फिर चित्तौड़ का अधिकार अब्दुल मजीद आसफ़खां के सुपुर्द कर वह अजमेर चला गया।

यह सब कुछ हुआ; किन्तु अकबर एक सहृदय और मनुष्य की सच्ची परीक्षा करने वाला मनुष्य था। जयमल और पत्ता की बहादुरी से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उक्त वीरों

की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये उसने उनकी मूर्तियाँ हाथी पर खुदवा कर अपने क़िले में रखवाईं। ये मूर्तियाँ जिन के नीचे लिखा हुआ था—

जयमल बड़ता जीमणो, पत्तो डावें पास,
हिन्दू चढ़िया हाथियों, अड़्यो जस आकास।

कई वर्षों तक वहाँ रहीं। बाद में हिन्दू विद्वेषी औरङ्गज़ेब ने उन्हें भूमि में गड़वा दिया।

सत्रहवां अध्याय

प्रताप और शक्तिसिंह

सब सरदारों ने मिलकर प्रताप को गद्दी पर तो बिठला दिया, परन्तु किसी ने यह न सोचा कि वे राणा को श्री सम्पन्न, सुखी, और स्वतन्त्र देश का राज्य नहीं दे रहे हैं; बल्कि एक दीन, दुःखी और परतन्त्र राज्य का स्वामी बनाकर उन्हें विपत्तियों के वेग-शील प्रवाह में ढकेल रहे हैं। अकबर ने चार वर्ष पूर्व ही चित्तौड़ को धूल में मिला दिया था। अब वहाँ रक्खा ही क्या था, जिसे प्राप्त कर प्रताप अपने आपको राजा सम-झते? एक २ करके सब राजपूत वीर युद्ध में काम आ चुके थे। ख़ज़ाने ख़ाली हो चुके थे,



सीसोदिया कुल भूषण महाराणा प्रताप

और शस्त्रागारों में केवल मात्र टूटे तथा कुन्द हथियारों का ढेर लगा हुआ था। परन्तु ऐसी विषम और निराशापूर्ण परिस्थिति से भी वीर हृदय महाराणा विचलित न हुए। उन्हों ने प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक देश का उद्धार न कर लूंगा, कुटी में रहूंगा, तृणों पर सोऊँगा और सोने चाँदी के बर्तनों में भोजन न करूँगा।" ऐसा प्रण कर प्रताप अपना पक्ष प्रबल करने के लिये सेना बटोरने लगे। यह काम भी कुछ कम कठिन न था। राजस्थान पर अकबर की कूटनीति का इतना प्रभाव था कि राणा के कुटुम्बी ही, दूसरों की तो बात ही क्या है, उनके विरोधी होगये थे।

महाराणा के एक भाई शक्तिसिंह कुंभलगढ़ में रहते थे। प्रताप की तरह शक्तिसिंह भी एक वीर और साहसी मनुष्य थे। राणा ने गद्दी पर बैठते ही इस आशा से उन्हें अपने पास बुला लिया था कि शायद उनकी सहायता से वे चित्तोड़ को यवनों के हाथ से मुक्त कर सकें। कुछ दिनों तक तो प्रताप और शक्तिसिंह में बड़ा मेल रहा। धीरे २ डाह की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। प्रताप की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा शक्तिसिंह के लिये असह्य हो उठी। वे मन ही मन कहा करते थे कि केवल बड़ा होने से तो कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। फिर इस प्रकार का सामाजिक नियम क्यों और कैसे बन गया? नियम तो यह होना चाहिये कि जो श्रेष्ठ हो, वही राज्य प्राप्त करे, चाहे वह बड़ा हो, चाहे छोटा। एक माता के दो पुत्रों में से एक तो राज्य-सुख भोगता हुआ आनंद से गुलछर्रे उड़ावे, और दूसरा दाने २ के लिये दर दर भिखारियों की तरह भटकता फिरे। यह कैसा न्याय? समय के

साथ द्वेष भी बढ़ने लगा। मन ही मन में रहने वाली द्वेषाग्नि की ज्वाला अब बाहर भी दीखने लगी। क्रोध में आकर शक्तिसिंह समय २ पर अपने पास वालों के सामने प्रताप की हँसी उड़ा और उन पर कटुक्तियाँ कस कर अपने अधिकार को स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे।

एक दिन दोनों भाई आखेट के लिये बन में पहुँचे। साथ में सामन्त, सरदार, कुल पुरोहित और कुछ राज्य-कर्मचारी भी थे। सब लोग दिन भर बन में घूमते रहे, पर कोई शिकार न मिला। संध्या समय जब वे निराश होकर घर लौट रहे थे, एक मृग उनके पास से चौकड़ियाँ भरता हुआ भागा। दोनों भाइयों ने एक साथ उस पर तीर चलाया। दोनों जाकर एक साथ मृग के मस्तक में लगे। मृग आहत होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर तक छटपटाया। फिर अनंत काल के लिये अपनी आंखें मुद्रित कर वहीं लेट गया। प्रताप प्रसन्न होकर घोड़े से कूद पड़े और हिरण के पास जाकर बोले-"भाई शक्ति, आओ। देखो तो मेरा तीर कितना अच्छा बैठा है। मालूम देता है कि तुम्हारा कुछ ठीक नहीं लगा।" यह सुनकर शक्तिसिंह भी पास आगये और कहने लगे-'यह तीर तुम्हारा नहीं, मेरा है। हिरण मेरे तीर से मरा है।' बात ही बात में झगड़ा बढ़ गया। साथी सब दूर खड़े हुए झगड़े का रंग देख रहे थे। किसी में इतना साहस न था कि आगे बढ़कर दोनों भाइयों को समझा देता। झगड़ा बढ़ता ही गया। प्रताप ताव में आगये, और कड़क कर बोले—"इस वितंडाबाद से क्या लाभ है? घोड़ों पर चढ़कर आये दिन भालों से झगड़ा तय क्यों नहीं कर लेते। अभी पता लग जाता है कि तुम कितने बहादुर हो,

और यह हिरण वास्तव में किसके बाण से मरा है। शरीर का थोड़ा लोहू बह जायगा, परन्तु यह तो प्रमाणित होजायगा कि कौन कितने पानी में है। शक्तिसिंह तो कई दिनों से ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे ही। मन की ख़ुशी को मन ही में दबाकर बोले—अच्छी बात है, यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं भी तैयार हूँ। दोनों अपने २ घोड़ों पर चढ़ गये। फिर शक्तिसिंह ने प्रताप को भाला फेंकने के लिये कहा, परन्तु राजपूती धर्म के अनुसार दोनों इस बात पर अड़े रहे कि पहले कौन किस पर वार करे। अन्त में यह तय पाया कि दोनों एक साथ भाला फेंकें। इसलिये वे भाला लेकर एक दूसरे पर फेंकने लगे।

दरबारी मौन-बद्ध होकर संघर्ष का अवलोकन कर रहे थे, परन्तु कोई भी भाइयों को शान्त करने के लिये आगे न बढ़ सका। दोनों की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। दोनों ही सिंह की तरह गर्जते हुए एक दूसरे को घायल करने का उद्योग कर रहे थे। वे कभी आगे बढ़ते, कभी पीछे हटते और कभी घोड़ों को खड़े रख कर वार करने लगते थे। बहुत देर होगई, परन्तु कोई किसी को घायल न कर सका। यह हाल कुछ देर तक तो कुल पुरोहित देखता रहा। फिर वह कुछ आगे बढ़ा और हाथ जोड़ कर युद्ध रोकने की प्रार्थना करने लगा। किंतु वहाँ कौन सुनता? पीछे हटकर बात सुनने और संधि करने का समय अब कहाँ था? दोनों भाई तो एक दूसरे की जान के ग्राहक हो रहे थे। ज़ोर २ से प्रहार होने लगे। किसी ने यह भी सुनने की परवाह न की कि कुल पुरोहित क्या कह रहा है, और वह क्या चाहता है।

पुरोहित नहीं चाहता था कि दोनों भाइयों में से किसी का

भी रक्त बहे। उसने जब देखा कि इनका शान्त होना कठिन है, तब वह कटार हाथ में ले, कूदकर दोनों के बीच में खड़ा हो गया और बोला–"आप लोग न मानिये, परन्तु यह भी स्मरण रहे कि जीते जी मैं आप लोगों को न लड़ने दूंगा। आप मेरे यजमान हैं। मैं ने आप का अन्न खाया है। मैं आप की भलाई चाहता हूं। अधिक न लड़ने दूंगा। यदि नर रक्त की ही इच्छा है तो यह लो।" यह कह कर उसने वह कटार अपने कलेजे में भौंक दी और वहीं गिर पड़ा, और राजकुमारों पर बलि देदी। उसके रक्त से भूमि लाल होगयी, और समीप था कि घोड़ों के पाँवों से उसका शरीर कुचल जाता। इतने में दोनों भाई अपने २ घोड़ों को रोक कर नीचे कूद पड़े।

यह बलिदान ऐसा न था कि उसका प्रभाव राजकुमारों पर न पड़ता। इस दुःखान्त दृश्य को देख कर दोनों के हृदय धड़कने लगे, और दोनों ही जल्दी २ पुरोहित की प्राण-रक्षा का उद्योग करने लगे। परंतु उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। ख़ाली पिंजरा रह गया था, जो मानो यह कह रहता था कि मुझ में रहने वाले पक्षी ने तुम दोनों पर प्राण न्योछावर कर दिये हैं।

एक निर्दोष ब्राह्मण की मृत्यु से दोनों भाइयों के क्रोध का नशा उतर गया। थोड़ा देर तक अटल निस्तब्धता रहा। फिर प्रताप बोले–"शक्ति! तुमने यह क्या किया? तुम्हारे ही कारण यह ब्रह्म हत्या हुई है। तुम्हारी जन्म पत्री देख कर एक दिन ज्योतिषी ने कहा था कि तुम मेवाड़ का सर्व नाश करोगे। उस वक्त मुझे इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ था। आज होगया। निराश्रय समझ कर मैं ने तुम को अपने पास बुलाया था, परन्तु भूल हुई। अब पछताता हूं। मेरे प्रेम का बदला तुमने षड़यन्त्र

और कृतघ्नता से दिया। हाय ! जिसको मैं भाई समझता था, वह शत्रु निकला। जिसे मैं देश-प्रेमी समझता था, वह देश-द्रोही निकला। जिसको मैं दया समझता था, वह क्रूरता निकली। अमृत विष निकला। तुम सर्व नाश करने वाले हो। अब मैं तुम्हें मेवाड़ में अधिक नहीं रख सकता। इसी समय तुम मेरे राज्य से निकल जाओ।"

प्रताप की इस ताड़ना को सुनकर शक्तिसिंह लज्जा से पानी २ होगये। उन्हें क्रोध भी आया। वे उसी समय घोड़े पर सवार हुए और चुप चाप वहाँ से निकल कर दिल्ली चले गये। उसी दिन से प्रताप ने एक भाई खोदिया, और मुग़ल सम्राट् अकबर को एक साथी मिल गया।

अठारहवां अध्याय

प्रताप और मानसिंह

राजपूताने के कई राजागण अपनी बहिन-बेटियों का विवाह अकबर के साथ कर उसके कृपा पात्र बन गये थे। उन में से आमेर के राजा भगवानदास के पुत्र मानसिंह भी एक थे। राजपूतों का अपनी कन्याओं को यवनों के हाथों सौंप ऊँचे २ पद प्राप्त करना, महाराणा प्रताप को बहुत खटकता था। इसलिये वे क्षत्रिय-कुल कलंक मानसिंह को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। मानसिंह एक चतुर, साहसी और रण-विशारद व्यक्ति थे। प्रताप भी कभी २ उनके उक्त गुणों की सराहना किया करते थे। किन्तु सांसारिक भोग विलास और राज्य सम्मान की इच्छा से अपने कुल के गौरव को ठुकराने वाले मानसिंह के इस अभ्युदय को वे पतन ही समझते थे। महाराणा कहा करते थे कि मानसिंह ने प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग और आत्मा का हनन किया है। प्रताप को अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण देश छोड़ना पड़ा; बन के कंकरीले मार्गों और दुर्गम घाटियों में भटकना पड़ा; कई दिनों तक लगातार भूखों रहना पड़ा; अपने कुटुम्बियों से अलग रहना पड़ा और हज़ारों का रक्त बहाना पड़ा। किन्तु अपनी प्रतिज्ञा, अपने ध्येय और धर्म को उन्हों ने फिर भी न छोड़ा।

गुजरात में विद्रोह दबाकर लौटते समय मानसिंह एक दिन डूंगरपुर होते हुए उदयपुर आये। प्रताप उस समय कुंभलमेर में रहते थे। मानसिंह ने राणा से कहला भेजा कि यदि आज्ञा हो तो मैं आप से मिलता जाऊँ। राणा ने उनके आग्रह को स्वीकार किया, और उनसे मिलने के लिये उदय सागर आये। जब मानसिंह अपने साथियों सहित वहाँ पहुँचे तो राणा के पुत्र अमरसिंह और सरदारों ने उनका बड़ा स्वागत किया। भोजन करने के समय कुंवर अमरसिंह ने कहा,-



मानसिंह

"राणा जी के सिर में दर्द है, इसलिये उनकी ओर से मैं आपका आतिथ्य करूँगा। आज राणा जी भोजन भी नहीं करेंगे। जब आप भोजन कर चुकेंगे, तब आकर वे आप से भेंट कर लेंगे।"

अमरसिंह के उत्तर को सुन कर मानसिंह की क्या दशा हुई? क्रोध में आकर उन्हों ने क्या कहा? और उन के आग्रह की परवाह न कर प्रताप ने क्या कहलाया? इसका वर्णन राम कवि ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'जयसिंह चरित्र' में बड़े ही अनूठे और हृदय स्पर्शी ढंग से किया है। लिखा है—

राना सों भोजन समय, गही मान यह बान,
हम क्यों जैवें आपहू, जैंवत हो किन आन।
कुँवर आप आरोगिये, राना भाख्यो हेरि,
मोहि गरानी सी कछू, अबै जैइहूँ फेरि॥
कही गरानी की कुँवर, भई गरानी जोहि,
अटक नहीं कर देऊँगो, तूरण चूरण तोहि।
दिये ठेलि कांसो कुँवर, उठे सहित निज साथ,
चुलू आंन भरि हौं कह्यौ, पौंछि रुमालन हाथ॥

अस्तु–मानसिंह राणा की अनुपस्थिति का कारण ताड़ गये। वे समझ गये कि मेरे पिता भगवानदास ने अपनी बहिन का विवाह अकबर के साथ किया है। इसलिये मेरे साथ बैठ कर प्रताप भोजन करना नहीं चाहते। परन्तु उन्हें अकबर का बल था। अपनी प्रभुता का मद था। वे भी ऐसे कहाँ थे कि इस अपमान को चुप चाप सह कर चले जाते। अतः उनका क्रोध सीमा पार कर गया। वह परोसी हुई थाली से उठ खड़े हुए और बोले—"अच्छा अमरसिंह! मैं समझ गया। तुम जाकर अभी राणा जी से कह दो कि मानसिंह ने उनके अस्वस्थ होने का कारण जान लिया। वे मेरे साथ भोजन करना नहीं चाहते। ख़ैर, यह उनकी इच्छा है। इस से मेरी कोई हानि नहीं। उन से यह कह देना कि इतने दिनों तक मैं ने राणा के विरुद्ध कोई शस्त्र नहीं उठाया; न कि जो दूसरे को ही उठाने दिया। परन्तु आज से मैं स्वयं उनका शत्रु होगया। यदि मैं उनका अभिमान न दूर करदूँ, इस अपमान का बदला उन से न ले लूँ, तो मेरा नाम मानसिंह नहीं।"

इसके उत्तर में राणा ने कहला भेजा कि जिस के पिता ने यवनों के साथ अपनी बहिन का विवाह किया, जो स्वयं वि धर्मियों तथा हिन्दुओं के गौरव को मिटाने वालों के साथ बैठ कर खाता है, उसके साथ बैठकर भोजन करने की कौन कहे, उस से स्पर्श किया हुआ जल पीने में भी प्रताप अपना अपमान समझता है। अब मानसिंह के क्रोध का कोई ठिकाना न था? वे तलमला उठे; उनका चेहरा क्रोध से लाल होगया और दाँत पीसते हुए उसी वक्त घोड़े पर चढ़ कर वहाँ से चलने की तैयारी करने लगे। इतने ही में प्रताप भी वहाँ आ पहुँचे। महाराणा का शरीर दुर्बल हो रहा था। कपड़े फटे हुए थे। नाना प्रकार की आपत्तियों और चिन्ताओं ने उनके रक्त को सोख लिया था। परन्तु इस दशा में भी उनकी देदीप्यमान आकृति से प्रकट होता था कि प्रताप हिन्दुओं के सूर्य्य, राजाओं के राजा और भारत के भूषण हैं। प्रताप को देखकर मानसिंह का रक्त खौलने लगा। वे अपने आपको न सँभाल सके और गर्व के साथ एक हाथ उठाकर बोले—"प्रताप! यदि मेरा नाम मान है, तो मैं तुम्हारे मान का मर्दन कर ही के आराम करूँगा। राणा, अपने कहे हुए शब्दों पर पश्चात्ताप प्रकट कर क्षमा माँगो, या किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये तैयार रहो।" महाराणा स्थिर समुद्र के समान गंभीर भाव से सब सुनते रहे। जब मानसिंह बोल चुके तो उन्हों ने कहा,-"महाराज मानसिंह, बहुत अच्छी बात है। ऐसा हो सही। जब मैं स्वयं अकबर का शत्रु हूं, तब उनके एक सेनापति की शत्रुता से क्यों डरूँ? आज आप मेरे अतिथि हैं। आप का सम्मान करना मेरा धर्म है। नहीं तो यहीं पता लग जाता कि अकबर का सम्बन्धी मानसिंह

बड़ा है, या दीन दरिद्र राणा प्रताप ? आप जब भी चाहेंगे, तब रण भूमि में प्रताप को तैयार पावेंगे।" इसी समय राणा का एक सरदार बोल उठा,-'अपने फूफा अकबर को भी लेते आना, भूल न रहे।' इस अन्तिम कटूक्ति ने अग्नि में आहुति का काम दिया। कई दिनों तक उसकी ध्वनि मानसिंह के कानों में गूंजती और पीड़ा करती रही।

मानसिंह के वहाँ से चले जाने के बाद जिस स्थान पर उनके लिये भोजन तैयार किया गया था, प्रताप ने उसे स्वच्छ करने का हुक्म दिया। सोने चाँदी के जल-पात्र और थाल उदय सागर में फेंक दिये गये, मानसिंह के बैठने से जो भूमि अपवित्र होगई थी, वह गंगाजल और गोमूत्र छिड़क कर पवित्र की गई। फिर सब उपस्थित जनों ने स्नान कर वस्त्र और यज्ञोपवीत बदले, तथा उस दिन सब ने उपवास किया।

वहाँ से मानसिंह सीधे दिल्ली पहुंचे। सम्राट् अकबर से सब बातें सविस्तार बयान कीं। नमक-मिर्च लगाने से भी बाज़ न आये। अपने सेना-पति का अपमान हुआ सुन, अकबर की कोपाग्नि उत्तेजित हो उठी, और महाराणा का गर्व भंजन करने की इच्छा से एक विशाल सेना मानसिंह के सेनापतित्व में उसने दिल्ली से मेवाड़ की तरफ़ भेजी। एक विषम और लोम-हर्षण युद्ध हुआ। इस युद्ध में विक्रम दिखाकर वीर केसरी, शूर शिरोमणि, आर्य कुल दीपक महाराणा प्रताप ने अपनी निर्मल कीर्ति अमर कर दी। इसी युद्ध के कारण भारत के स्वदेश प्रेमी सन्यासियों में महाराणा का नाम सबसे ऊपर लिखा गया है। युद्ध का वह स्थान, जहाँ से प्रताप का प्रकाश चारों ओर फूट निकला था, इतिहास में हल्दी घाटी के नाम से प्रसिद्ध है।

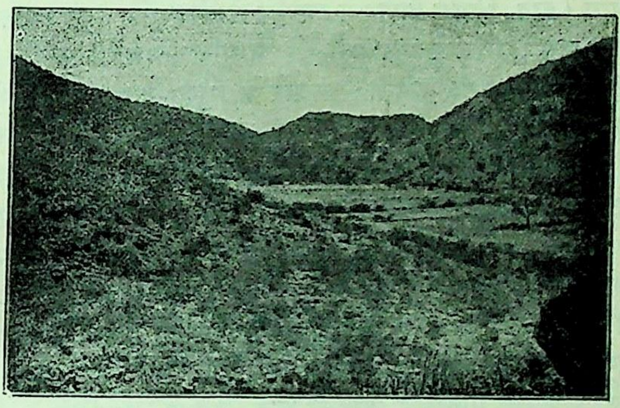
उन्नीसवां अध्याय

हल्दी घाटी का युद्ध

इसे मेवाड़ का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि संकट के समय उसे छोड़कर वही लोग चले गये, जिन से सहायता और सहानुभूति की आशा थी। एक विभीषण के शत्रुओं में मिल जाने से जब सोने की लंका का सर्वनाश होगया, तो फिर उस देश का तो कहना ही क्या है, जहाँ एक नहीं, दो नहीं, किन्तु कई विभीषण उत्पन्न होगये थे। गद्दी न मिलने से जगमाल अकबर से जा मिले। भाई की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को न देख सकने के कारण, शक्तिसिंह भी मुग़ल सैन्य में सम्मिलित होगये। सगर पहिले ही वहाँ मौजूद थे। और सब के शिरोमणि मानसिंह तो प्रारम्भ से ही राजपूतों की जड़ खोद रहे थे! हल्दी घाटी के युद्ध के ऐतिहासिक महत्व को थोड़ी देर के लिये अलग रखकर, यदि उसकी आंतरिक अवस्था पर दृष्टिपात किया जाय तो पहली विशेषता यह मालूम होती है कि अकबर ने अपनी कूटनीति से इस युद्ध में भाई के विरुद्ध भाई को और सम्बन्धी के विरुद्ध सम्बन्धी को खड़ा किया था। महाराणा को इस युद्ध में केवल यवनों को ही धराशायी नहीं करना था, किन्तु अपने भाइयों की गरदनें भी नापनी थीं।

सन् १५७६ ई० के जून के महीने की प्रचंड ताप में,

हल्दी घाटी के रणक्षेत्र पर राजपूतों की तलवारें व्योम में चमक उठीं। राजपूत सेना के मुख्य संचालक प्रताप और मुग़ल सेना के मानसिंह थे। मानसिंह ने अपने व्यूह को बड़ी चतुराई से जमाया था। वे चाहते थे कि एक भी राजपूत बच कर घर न जाय, जिस से विवश होकर अकबर की आधीनता प्रताप शीघ्र ही स्वीकार कर लें। परन्तु वीरवर प्रताप इस व्यूह-चक्र से तनिक भी चिन्तित एवं व्यथित न



हल्दी घाटी का रणक्षेत्र

हुए। अमित वेग से लड़ते हुए साथियों सहित वे उस के भीतर घुस गये, और अपने खड्ग प्रहार से मुग़ल-दल को दलित, मथित और प्रकंपित करने लगे। कई सहस्र सेना एक ओर थी, और केवल ५००० दूसरी ओर। फिर प्रताप की इस पाँचों हज़ार सेना में भी इस समय अधिक संख्या जंगली भीलों की थी, जो मैदान में लड़ने से झिझकते थे। वे अधिक से

अधिक पहाड़ों के दर्रों में से, वृक्षों की ओट से शत्रुओं पर तीर चला सकते थे अथवा पत्थर फेंक कर उनके सिर तोड़ सकते थे। सैनिक-शिक्षा के नियमों का पालन उन में नाम मात्र को भी न था। परन्तु वे फिर भी ख़ूब लड़े। ऐसे लड़े कि बात की बात में व्यूह टूटकर छिन्न भिन्न होगया, और मुग़ल सेना इधर उधर भागने लगी।

शत्रुओं के पाँव उखड़ते देख प्रताप का साहस सौ गुना होगया। अब निर्भय होकर वे रणक्षेत्र में सिंह की तरह चक्कर लगाने लगे। उनकी इच्छा यही थी कि यदि विभीषण मानसिंह कहीं मिल जाय तो अपनी तलवार के गुण बतला कर उसे देश-द्रोह का मज़ा चखा दूँ। परन्तु मानसिंह का कहीं पता भी न था। बड़ी देर के बाद मानसिंह एक हाथी पर बैठे हुए दिखाई पड़े। उन्हें देखते ही राणा का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। पल भर में वे उस के पास पहुँच गये और बोले,—"मानसिंह, तुम से जितनी हो सके बहादुरी दिखालो। प्रताप आ पहुँचा है।" यह कह कर उन्हों ने अपना भाला उठाया और चेटक को हाथी के मस्तक तक कुदा कर ज़ोर से वार किया। परन्तु मानसिंह हौदे में झुक गये थे, इसलिये वे तो बच गये परन्तु महावत मारा गया। सिवाय भागने के अब कोई चारा न था। मानसिंह भागे। उन के साथ उनकी सेना भी भागी।

मानसिंह को मरा जान कर राणा लौट गये। इस समय आसफ़ख़ाँ वग़ैरह की चेष्टा से मुग़ल सेना फिर आगे बढ़ी, और चारों तरफ़ से प्रताप को घेर लिया। कुपित हो प्रताप भी इधर से उधर, उधर से इधर विद्युत की तरह घूम २ कर मुग़ल

सैन्य का संहार करने लगे। वे इतनी शीघ्रता से वार करते तथा पैंतरा बदलते कि शत्रुओं से घिर जाने पर भी एक जगह दिखाई नहीं देते थे। परन्तु एक कठिनाई यह थी कि राणा के मस्तक पर राज्य चिन्ह लगे हुए थे। इस से पहचान कर शत्रु उन्हीं पर अधिक आक्रमण करते थे। और यही कारण था कि पहले भी तीन बार वे संकट में पड़ चुके थे। राणा बड़ी वीरता के साथ लड़ रहे थे, परन्तु पचास के सामने एक आदमी क्या कर सकता था? अंत में राणा थक गये और उन में पहले की सी फुर्ती न रही। वे घायल होने लगे। घोड़े के शरीर से भी रक्त बहने लगा, और समीप था कि उन का वहीं अन्त हो जाता। इतने में सादड़ी के झाला मानसिंह ने बड़े साहस का काम किया। प्रताप के मस्तक से राज्य चिन्हों को बड़ी सफ़ाई से हटा और अपने मस्तक पर धारण कर मानसिंह दूसरी ओर भागे। उनकी इस बुद्धिमानी को समझ कर झंडे वाला भी प्रताप को छोड़ उन्हीं की तरफ़ भागा।

मानसिंह का परिश्रम निष्फल न हुआ। हुआ वही जिसकी उन्हें आशा थी। मानसिंह को ही प्रताप समझ कर मुग़लों ने उनका पीछा किया। आगे मानसिंह, पीछे केसरिया झंडा और उसके पीछे रक्त पिपासु मुसलमान थे। प्रताप से थोड़ी दूर जाकर मानसिंह रुक गये। वहीं युद्ध होने लगा। घायल केसरी के समान मानसिंह मुग़लों पर प्रहार करने लगे। पाँच सात मुसलमानों ने मिल कर झंडे वाले को बात की बात में काट कर वहीं सुला दिया; और केसरिया झंडा, जो अब शोणित से रक्तवर्ण होगया था, धूल में लोटने लगा। किसी राजपूत ने आकर फिर उसे उठाया, परन्तु वह फिर गिरा, फिर उठा,

और फिर गिरा। इस प्रकार कई बार धूल चाट कर वह झंडा फिर उठा, और अन्त में मरे हुए, घायल और कराहते हुए राजपूत वीरों के नीचे दबकर वहीं रहगया। उसी के पास स्वामि भक्त मानसिंह का मृत शरीर पड़ा हुआ था। रुधिर और धूलि से सना हुआ, तलवार और भाले की असंख्य चोटों से छिन्न भिन्न और बिखरा हुआ, हाथी-घोड़ों के पाँवों से ठुकराया हुआ और झंडे के वस्त्र से लिपटा हुआ, वह शरीर मानसिंह के अश्रुत पूर्व बलिदान, स्वदेशाभिमान और स्वामि भक्ति की घोषणा, डंके की चोट से भी अधिक तीव्र और मर्म भेदी स्वर से कर रहा था।

इधर जब यह कटा कटी हो रही थी, मौक़ा पाकर प्रताप वहाँ से खिसक गये। उनके सात घाव लगे थे। इस कारण उनकी देह और वस्त्र ख़ून में रंग गये थे। चेटक का शरीर भी रक्त से लथपथ होरहा था, परन्तु फिर भी अपने स्वामी को लेकर वह सरपट भागा जा रहा था। महाराणा का व्यग्र मन घोड़े से भी अधिक दौड़ रहा था, समय और उस से भी अधिक वेग से भाग रहा था। वे मन ही मन सोच रहे थे-हाय! मैं क्यों नहीं आज स्वदेश के काम आगया? इस से अधिक अच्छा दिन मरने का फिर कब मिलेगा? क्षण भर में मेवाड़ के भविष्य का चित्र उनकी आँखों के सामने चित्रपट की तरह फिर गया। फिर सोचा-नहीं, अमरसिंह किसी काम का नहीं है। उस से देश की रक्षा न हो सकेगी। कुछ दिनों तक मेरा जीवित रहना देश के लिये कल्याणकारी होगा। चेटक हवा से बातें कर रहा था। किन्तु महाराणा का इस तरफ़ ध्यान ही न था कि वे किस दिशा में जा रहे हैं, और घोड़ा उन्हें कहाँ ले जा रहा है।

इतने में पीछे से घोड़ों को पाद-ध्वनि सुनाई दी। माहाराणा ने जो पीछे फिर कर देखा तो क्या देखते हैं कि दो अश्वारोही बड़ी तेज़ी से घोड़ा फेंके चले आ रहे हैं, और तीसरा उनके बहुत पीछे है। प्रताप ने भी अपने घोड़े के एड़ लगाई। मालिक का इशारा समझकर चेटक एक बार फिर हवा से बातें करने लगा। मार्ग में एक बरसाती नाला पड़ा, जिसे चेटक तो आसानी से फाँद गया, किन्तु पीछे आने वाले शत्रु न कूद सके। इसलिये वहीं रुक कर अपनी निःसहायता पर पछताने लगे। राणा फिर भागने लगे। नाले से अधिक दूर नहीं गये होंगे कि इतने में किसी ने मेवाड़ी लहजे में कहा—'ओ नीला घोड़ा रा असवार।' सुनकर महाराणा वहीं रुक गये। घायल चेटक भी अब आगे न बढ़ सका। महाराणा ने सोचा कि अब आगे जाना व्यर्थ है। या तो मरेंगे या मारेंगे, पर आगे न बढ़ेंगे। यह सोचकर उन्हों ने तलवार मज़बूती से पकड़ ली और शत्रु का सामना करने को तैयार होगये। परन्तु अश्वारोही जब पास आकर रुका तो उसे देखकर राणा के आश्चर्य का पारावार न रहा। राणा ने देखा कि वह तो उनका भाई शक्ति है !!

शक्तिसिंह ने घोड़े से कूदते ही प्रताप के पाँव पकड़ लिये और बोले—"भाई क्षमा करो। भाई प्रताप ! एक बार मुंह से कहो कि शक्ति, हमने तुम्हारा घोर अपराध क्षमा किया। भाई एक दिन मैं ने सोचा था कि मैं आप से श्रेष्ठ हूँ। इसी बात की परीक्षा के लिये आप से युद्ध कर, मैं एक निर्दोष कुल पुरोहित की हत्या का कारण बना था। परन्तु इस युद्ध में आज मैं ने देख लिया कि आप श्रेष्ठ और मैं क्षुद्र हूँ। आप वीर और मैं कायर हूँ। मैं देश द्रोही, भ्रातृ द्रोही, आत्म द्रोही, और आत्म हन्ता हूँ। आज मैं तुम

से न तुल सका। तुम्हारा पलड़ा भूमि पर पड़ा है। जुगनू और सूर्य्य में, शृंगाल और सिंह में, विष और अमृत में जितना अन्तर है उस से भी अधिक शक्ति और प्रताप में है। आप राजपूत कुल के दीपक हैं, वीर शिरोमणि हैं, और देश के गौरव हैं। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये!! क्षमा कीजिये!!!" भाई के भावों में इतना परिवर्तन देख राणा भी करुणा से आर्द्र होगये। घोड़े से कूद कर उन्हों ने भाई को छाती से लगा लिया। इस प्रकार कई वर्षों से बिछुड़े हुए दो भाइयों के दो हृदयों का मिलन हुआ!!

इधर राणा ने रकाब से पैर निकाला ही था कि चेटक गिर पड़ा और छटपटाने लगा। दोनों भाई दौड़कर पास ही के नाले में अपने दुपट्टे भिगोकर जल लाये, और चेटक के मुँह में टपकाने लगे। एक भाई दुपट्टे से हवा कर रहा था; दूसरा एक हाथ से मुँह में पानी टपकाता हुआ दूसरा हाथ स्नेह पूर्वक उसके मुँह पर फेर रहा था। थोड़ी देर बाद चेटक ने आँखें खोलीं। उसका शरीर रह रह कर काँप रहा था। आँखों से आँसू बह २ कर ज़मीन पर गिर रहे थे, और वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से, बीच बीच में कान हिलाकर प्रताप की ओर देख रहा था, मानो वाणी हीन होने से आँसुओं के द्वारा अपने विछोह की सूचना देता हुआ क्षमा याचना कर रहा हो। प्रताप अपने प्यारे घोड़े की अवस्था अधिक न देख सके। उन्होंने उसके सर को अपनी गोद में ले लिया और बार २ मुँह चूमने लगे। चेटक थोड़ी देर तक कान हिलाता और पैर पटकता रहा। फिर एक बार असह्य यन्त्रणा से चीख़ मार कर इस लोक से चल बसा!

चेटक के मरते ही राणा के धीरज का पुल टूट गया। वे चुपचाप, नीचा मुख किये अश्रु विसर्जन करने लगे। जो राणा

सुमेरु का तरह अटल और सागर की तरह गंभीर थे, आज बालकों की तरह बिलखने लगे। भाई की यह दशा देख शक्ति की आँखों में भी आँसू आगये। उनकी वाक् शक्ति रुक गई और प्रताप के टपाटप गिरते हुए आँसुओं की ओर देखने लगे। थोड़ी देर तक कोई कुछ न बोला, फिर शक्तिसिंह ने कहा—"भैया, आप इतने अधीर क्यों हो उठे हैं? चेटक ने तो आज जीवन लाभ लिया है। पशु होकर जो काम चेटक ने किया है, वह मनुष्य से भी न हो सकेगा। उठो, और उठकर अपना काम सँभालो। तुम देश की आशा हो! सम्पूर्ण देश तुम्हारी ओर टकटकी लगाए देख रहा है। तुम्हारी जीत से जीत है और तुम्हारी हार से हार। भाई, तुम तो विपत्तियों के भारी से भारी झंझावात से भी विचलित न हुए थे। बड़े २ वीरों को देखकर भी तुम निर्भीक और निष्कंप खड़े रहते थे। फिर क्यों आज इस तरह से अश्रुपात कर अनिष्ट की ओर अग्रसर हो रहे हो? मेरे घोड़े पर चढ़कर कुंभलमेर की ओर निकल जाओ, और घावों पर पट्टियाँ बाँधकर कुछ आराम करो।

भाई के सहानुभूति पूर्ण शब्दों से प्रताप के हृदय में साहस का संचार हुआ। चेटक की पुण्य स्मृति में दो अन्तिम आँसू डाल कर उन्हों ने शक्ति की तरफ़ मुँह मोड़ा। परन्तु उनकी वीर-तपस्या से मुग्ध भाई का मस्तक तो उन्हीं के चरणों में झुका हुआ था! अपूर्व दृश्य था! अनोखी झाँकी थी। भाई, भाई के गुणों पर रीझ गया था। शक्ति प्रताप के त्याग पर मुग्ध थे, तो प्रताप शक्ति के भ्रातृ स्नेह पर न्योछावर!!

गोधूलि का समय था। रजनी की मंद गति से बढ़ता हुआ

अन्धकार दिन के रहे सहे प्रकाश को भी शनैः शनैः निगल रहा था। विलम्ब होते देख दोनों भाई उठ खड़े हुए। एक ने दूसरे को गले से लगाया। एक ने दूसरे के आँसू पोंछे। फिर अलग अलग राह चल दिये, न जाने फिर कब मिलने के लिये !!!

बीसवां अध्याय

पृथ्वीराज का पत्र

हल्दी घाटी के रणक्षेत्र को रक्त रञ्जित कर देने पर भी जब अकबर का उद्देश्य पूरा न हुआ, तब मस्तक पर चोट खाये हुए सर्प की तरह झुंझला कर उसने प्रताप के निवास स्थान कुंभलगढ़ को घेर कर चारों ओर से नाकेबन्दी करने का हुक्म दिया। रसद के आने जाने के मार्ग बन्द हुए समझ प्रताप कुंभलगढ़ को छोड़ कर चले गये और बन २ भटकने लगे। परन्तु हतोत्साह वे फिर भी न हुए। होते ही क्यों? उन्हों ने तो संकल्प कर लिया था कि प्राण रहते, शरीर में रक्त रहते और हाथ में तलवार रहते स्वतन्त्रता को न छोड़ेंगे। जंगल के कंटका-कीर्ण और हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण पथों में घूमते हुए प्रताप की दशा इस समय अत्यन्त ही दयनीय थी। यदि चाहते तो अकबर की आधीनता स्वीकार कर वे भी ऊँचे २ पद प्राप्त कर लेते और आराम से दिन काटते। अकबर उनके मुँह की ओर देखा करता था। केवल मुँह खोलने की देर थी। लेकिन आधीन होना तो दूर रहा, प्रताप 'आधीन' शब्द ही अपनी ज़बान पर न लाये।

स्वतन्त्रता के लिये प्रताप ने भाँति २ के कष्ट सहे और आगे भी सहने को तैयार थे। परन्तु जब वे अपने साथियों के

त्याग और भोले भाले चेहरों की ओर देखते, तो उनके रोमांच खड़े हो जाते थे। साथियों के पास न भोजन था, न वस्त्र था, और न सिर टेकने के लिये कोई सुरक्षित स्थान ही था। भागते भागते जिस दिन जहाँ रात हो जाती, वहीं भूखे प्यासे पड़ रहते थे। बेचारों की जान सदैव जोखिम में रहती थी। प्रताप अपने साथियों के त्याग को समझते थे। सहयोगियों का यह त्याग उनके लिये गौरव की वस्तु, परन्तु प्रताप के लिये दुःख का कारण था। अन्य दुःखों के साथ एक दुःख उनका भी पीछे लगा हुआ था, और उसे भी वह सहन करते ही थे। किन्तु दुःख सहने की भी सीमा होती है—उसका भी अन्त होता है! देश का दुःख, परिवार का दुःख, साथियों का दुःख, जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख के बादल उमड़ते दिखाई देते थे!! आघात पर आघात, चोट पर चोट, और आक्रमण पर आक्रमण होने से राणा निर्बल तो पहले ही हो गये थे, फिर एक दिन ऐसी घटना घटी जिस से उनका बचा-खुचा धैर्य भी जाता रहा।

कहते हैं, एक दिन जब राणा तृण शय्या पर लेटे हुए अपने दुर्भाग्य और देश के भविष्य पर विचार कर रहे थे, यकायक अपनी बेटी का मर्मभेदी चिल्लाना सुनकर वे उसी ओर दौड़े। रोती हुई बालिका को जिस अवस्था में उन्हों ने देखा, उस से उनका हृदय फटगया! क्या देखते हैं कि एक वन बिलाव कन्या के हाथ से रोटी लेकर भाग गया है और रोटी छिन जाने से वह फूट २ कर रो रही है। प्रताप का माथा चकरा गया। अपने साथियों, सम्बन्धियों और सरदारों को बड़ी यन्त्रणा से मरते देख कर भी प्रताप को इतना असीम दुःख नहीं हुआ था,

जितना इस अबोध बालिका को रोटी के लिये रोती हुई देखकर हुआ। राणा अधीर हो उठे और बोले—"यदि इस प्रकार की पीड़ा देखकर राज मर्य्यादा की रक्षा करनी पड़े तो उस मर्य्यादा को धिक्कार है? सौ बार धिक्कार है!! उन्हों ने उसी वक्त एक संधि-पत्र लिखा और अकबर के पास भेज दिया।

अकबर के दरबार में वह पत्र पहुँचा। अकबर के आनन्द-उत्साह की सीमा न रही। उसी वक्त अपने मुख्य २ कर्मचारियों को बुलाकर उसने हुक्म दिया कि सारे शहर में विजयोत्सव मनाया जाय। प्रत्येक महल के ऊपर रेशमी पताकाएँ फहराई जायँ। शाही सड़कों पर गाना-बजाना हो। मंदिरों और मसजिदों में प्रार्थनाएँ की जायँ और समस्त नगर में दीपावली मनाई जाय। बादशाह की आज्ञा से दिल्ली में सर्वत्र बड़ी धूम-धाम से आनन्द मनाया जाने लगा। फिर बादशाह ने बीकानेर नरेश रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज को वह पत्र दिया और गर्व से बोला-यह लो, अपने प्रताप का सन्धि-पत्र! पृथ्वीराज बड़े धार्मिक और वीर पुरुष थे। प्रताप की महत्ता को वे समझते थे। प्रताप की वीरता पर उन्हें अभिमान था। पृथ्वीराज ने पत्र को बड़े ध्यान से देखा और कहा—"जहाँपनाह! मुझे तो इसे देख कर भी यह विश्वास नहीं होता कि यह पत्र महाराणा का लिखा हुआ हो। अग्नि शीतल, गुलाब असुन्दर और संगीत कर्ण कटु हो सकता है। परन्तु प्राणों के रहते हुए प्रताप आपकी आधीनता स्वीकार कर सकता है-यह कहना, ऐसा सोचना और इसपर विश्वास लाना प्रताप की नहीं, अपनी ही हँसी कराना है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेवाड़ और भारत का ही क्या, समस्त संसार का राज्य

भी यदि प्रताप के पाँव तले रख दिया जाय तो वह उसे ठुकरा देगा। स्वतन्त्रता के सामने प्रताप की दृष्टि में राज्याधिकार, राज्य-वैभव, राज्य सम्मान का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। सागर मर्य्यादा, हिमालय गौरव और सूर्य तेज को भले ही छोड़ दे, परन्तु प्रताप तन, धन और जीवन देकर भी अपने प्रण को न छोड़ेगा। यह पत्र प्रताप के हाथ का लिखा हुआ नहीं हो सकता। अवश्य इस में कुछ फ़रेब है। यदि आज्ञा हो तो मैं इसके सत्यासत्य का निर्णय कर लूँ। बादशाह की आज्ञा से वीर कवि पृथ्वीराज ने निम्नलिखित दो सोरठे प्रताप के पास भेजे—

पातल जो पतसाह, बोलै मुख हूंतां वयण ॥
मिहर पछम दिस मांह, ऊगे कासप राव उत ॥१॥

अर्थ—प्रतापसिंह यदि अकबर को अपने मुख से बादशाह कहें, तो सूर्य पश्चिम में उगने लग जाय अर्थात् जिस तरह सूर्य का पश्चिम में उदय होना असम्भव है, उसी तरह प्रताप के मुँह से भी अकबर के लिये 'बादशाह' शब्द निकलना असम्भव है।

पटकूँ मूँछां पाण, के पटकूँ निज तन करद ॥
दीजे लिख दीवाण ! इण दो महली बात इक ॥२॥

अर्थ—हे दीवाण ! मैं अपनी मूँछों पर ताव दूँ, अथवा अपनी तलवार से अपने ही शरीर का अन्त कर दूँ। इन दो बातों में से एक लिख दीजिये।

पृथ्वीराज के इस छन्दोवद्ध पत्र का प्रत्यक्ष में तो यही प्रयोजन था कि ठीक बात क्या है, सो जान ली जाय। परन्तु गुप्त आशय यह था कि यदि अकबर का कथन सत्य है और पत्र वास्तव में राणा का ही लिखा हुआ है तो उन्हें उनके पथ

और प्रतिज्ञा से च्युत होने से रोके। कवि ने घर की बोली में अपने अन्तर्भूत भावों को इस ख़ूबी से दरसाया था कि पढ़ते ही प्रताप की मोह निद्रा टूट गई। उनकी नस में कविता के एक २ शब्द का असर पड़ा। उनका हृदय उत्तेजित हो उठा और उसी वक्त निम्नांकित तीन दोहे उत्तर में लिख भेजे—

तुरक कहासी मुख पतौ, इण तन सूं इकलिंग ॥
ऊगै जांही ऊगसी, प्राची बीच पतंग ॥१॥

अर्थ—श्री एकलिंग जी इस प्रताप के मुख से तो अकबर को तुर्क ही कहलावेंगे, और सूर्य का उदय पूर्व दिशा में, जहाँ होता है, वहीं होता रहेगा।

खुसी हूंत पीथल कमध, पटको मूँछां पाग ॥
पछटण है जेतै पतौ, कलमाँ सिर के वाण ॥२॥

अर्थ—हे वीर पृथ्वीराज, जब तक प्रताप की तलवार यवनों के सिर पर है, तब तक बड़े मज़े से आप अपनी मूछों पर ताव देते रहिये।

सांग मूंड सहसी सको, समजस जहर सवाद ॥
भड़ पीथल जीतो भलां, वैण तुरक सूं वाद ॥३॥

अर्थ—(प्रतापसिंह) मस्तक पर सांग की चोट सहन करेगा क्योंकि अपनी बराबरी वाले का यश विष के समान कटु होता है। हे वीर पृथ्वीराज! तुर्क (अकबर) के साथ वाक् युद्ध में आप भली भाँति विजयी हों।

पृथ्वीराज को यह पत्र लिखते ही प्रताप ने आमोद प्रमोद में लीन और असावधान मुग़ल सेना पर छापा मारा। मुग़ल सेना, जो कुंभलगढ़ के चारों ओर पड़ी हुई थी, इस आकस्मिक आक्रमण से भयभीत होगई, और इधर उधर भागने लगी। भीलों ने पहाड़ों पर चढ़ कर पत्थर और तीर बरसाने शुरू

किये। अभ्यस्त न होने के कारण मुग़ल सैनिक राणा के साथियों का पहाड़ों में पीछा न कर सके। बहुतेरी यवन सेना मारी गई। पर प्रताप का उद्देश्य फिर भी पूरा न हुआ। उन्हें पुनः पर्वत की कंदराओं में छिपना पड़ा। राणा की सब आशाएं जाती रहीं। निराश होकर उन्हों ने जन्मभूमि को छोड़कर चले जाने का निश्चय किया, और कुछ भील सरदारों को साथ लेकर मातृभूमि को अंतिम प्रणाम कर विदा हुए। इसी समय इनके मन्त्री भामाशाह वहां आपहुँचे, और अपनी अनंत धन राशि राणा के चरणों में उड़ेल दी।

धनाभाव के कारण राणा इतने दिनों तक सेना एकत्रित नहीं कर सके थे। आज प्रभूत धन राशि प्राप्त होते ही फिर से मातृभूमि को मुक्त करने में संलग्न होगये। इसी धन के सहारे उन्हों ने फ़ौरन सेना एकत्र करली, और यवन सेना पर टूट पड़े। प्रताप ने मेवाड़ को जंगल बना दिया। जो सामने आया, उसी को तलवार के घाट उतारा। देखते देखते चित्तौड़, मांडलगढ़ आदि दो एक स्थानों के अतिरिक्त सारा मेवाड़ राज्य पुनः प्रताप के अधिकार में आगया।

इस प्रकार मेवाड़ के अधिकांश भाग को यवनों से छुड़ा कर राणा चित्तौड़ के पुनरुद्धार की सोचने लगे। देश हरा भरा हो गया और लोग आ आ कर उदयपुर में बसने लगे। इसी समय राणा ने अपने भाई बेटों को जागीरें दीं, और सब के पद नियत किये। संकट के समय जिन सरदारों ने प्रताप का साथ दिया था, उन्हें जागीरें देते वक्त उन्हों ने विशेष ध्यान रक्खा।

इक्कीसवाँ अध्याय

महाराणा प्रताप का स्वर्गवास

प्रताप की इच्छा चित्तोड़ को भी यवनग्रास से मुक्त करने की थी। परन्तु वे समय के पहले ही वृद्ध होगये और अब इस योग्य न थे कि रणक्षेत्र में उतर कर देश के लिये लड़ते। भाँति भाँति के दुःखों ने उनके शरीर के रक्त को चूस लिया था। चित्तौड़ अभी तक मुग़लों के ही अधिकार में था। इसलिये प्रताप पावंड के पास एक कुटिया में रह कर अपनी मृत्यु के दिन गिनने लगे। राणा जी अपने पुत्र अमरसिंह के रहन-सहन और आचार विचार से भी अत्यन्त खिन्न रहते थे। वे जानते थे कि उनके बाद अमरसिंह सांसारिक भोग विलास में फँस कर, देश कार्य को ठुकरा देगा; और उनके इतने वर्षों का उद्योग मिट्टी में मिल जायगा। चित्तौड़ के न ले सकने का दुःख तो था ही; इसके अतिरिक्त अमरसिंह का दुःख भी पीछे लगा हुआ था। इस से राणा दिन-दिन क्षीण और दुर्बल हो रहे थे। मेवाड़ के भाग्याकाश को प्रकाश-शून्य देख कर वे कभी कभी नींद से उचक पड़ते थे। परन्तु चारा ही क्या था ?

एक दिन राणा के सब सरदार उनकी शय्या के पास बैठे हुए थे। राणा ने एक लम्बी सांस ली। फिर, अश्रु-पूर्ण आँखों से कुटीर की टूटी छत की तरफ़ अत्यन्त निराशापूर्ण और दीन

भाव से देखने लगे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर सरदारों का दुःख हो रहा था। सलूंबर के रावत से न रहा गया और उन्होंने प्रश्न किया कि क्या कारण है जो आप की आत्मा इतना दुःख पा रही है। यह सुन कर महाराणा ने करवट बदली और धीरे से बोले—"रावत जी! मेरा दुःख शारीरिक नहीं, बल्कि मानसिक है। मैं जानता हूं कि मेरे मर जाने के बाद देश का काम रुक जायगा। यदि आज आप सब मिलकर प्रतिज्ञा करें कि जीते जी अपनी मातृभूमि को कभी तुर्कों के हाथ में अर्पण न करेंगे तो मैं सुख-पूर्वक मर सकूंगा। अमरसिंह से अपने देश, वंश और गौरव की रक्षा न हो सकेगी। सम्मान के लोभ में पड़ कर वह मातृ-भूमि को फिर मुग़लों के सुपुर्द कर देगा। वह विलासी है, इसलिये कष्ट नहीं झेल सकेगा। इन कुटियाओं के स्थान पर ऊँचे ऊँचे महल बनेंगे, उन में वेश्याओं का नृत्य होगा, और भोग विलास में ग्रस्त अमरसिंह मेवाड़ की दुरावस्था को भूल जायगा। हाय! जिस को स्वतंत्रता के लिये मैं बन-बन घूमा, पहाड़-पहाड़ भटका, भूखा रहा, प्यासा रहा, दुःख सहा, लाखों का रक्त बहाया, वहीं अब विलास का तांडव नृत्य होता दिखाई देगा। मुझे अच्छी तरह से मालूम है कि अमरसिंह सुख के लिये स्वाधीनता के गौरव को छोड़ देगा। तुम लोग उसकी आज्ञा का पालन कर उसके अनुगामी बन कर मेवाड़ के पवित्र वंश में कलंक लगा दोगे।" प्रतापसिंह का वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि सब सरदार बोल उठे,—"महाराणा के पवित्र सिंहासन की शपथ खाकर हम सब प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हम में से एक भी जीवित रहेगा, उस दिन तक एक भी यवन मेवाड़ भूमि पर पाँव न रख सकेगा। हम अमरसिंह को

हुज़ूर की आज्ञा का निरादर न करने देंगें। उसको अपना कर्त्तव्य समझाते रहेंगे, और जब तक मेवाड़ का पूरी तरह से उद्धार न कर लेंगे, कुटियाओं में रह कर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

सरदारों को ऐसी प्रतिज्ञा करते देख राणा जी को कुछ शान्ति मिली, और उनके चहरे पर हर्ष के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे। पास ही में बैठा हुआ अमरसिंह आँसू बहा रहा था। प्रताप ने संकेत से उसे अपने पास बुलाया और बोले,—"अमर! रोओ मत। धीरज रक्खो। एक दिन मरना सभी को है। अमर होकर कोई नहीं आया है। बेटा, तुम्हारी माता चल बसी और मैं भी तैयारी कर रहा हूं। परन्तु इस से यह मत समझना कि मैं तुम्हें अकेला छोड़े जा रहा हूं। नहीं, मैं तुम्हें उन लोगों के पास छोड़ कर जा रहा हूं, जिन्हों ने कम से कम पच्चीस वर्ष तक अनेक प्रकार के दुःखों और संकटों में, पर्वतों और जंगलों में, धूप और बरसात में मेरा साथ दिया है। यदि तुम उनका सम्मान करोगे, उनकी आज्ञा का पालन करोगे, और उन से भाई का सा बर्ताव करोगे तो वे भी तुम्हारे लिये जब चाहोगे तब प्राण देने को उद्यत रहेंगे। मैं सब सरदारों के सामने मेवाड़ का राज्य तुम्हें सौंपता हूं। इस आशा से नहीं कि उसे पाकर, राज्य मद में मत-वाले होकर अपने पूर्वज बापा का गौरव भूल जाओ। किन्तु इस आशा से कि तुम्हारे हाथों उसका गौरव अधिक उज्ज्वल हो। अफ़सोस! मैं चित्तौड़ न ले सका। उसके उद्धार का भार तुम्हीं पर छोड़ता हूं, और आशीर्वाद देता हूं कि ईश्वर तुम्हें उसके विनष्ट गौरव का पुनरुद्धार कर के उस पर सूर्यांकित झंडा फहराने का साहस और शक्ति प्रदान करे। बस, बेटा! अधिक

क्या कहूं ? यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद है। जाओ, विजयी हो, यशस्वी हो और सुखी रहो।

यह कह कर प्रताप चुप होगये। अमरसिंह ने उनके चरण छूए। राणा ने पुत्र के सिर पर प्रेम से हाथ फेरा। थोड़ी देर के बाद राणा का गला अवरुद्ध होगया। उनकी आँखें पथरा गईं। उन्हों ने एक लंबी सांस ली, और देखते ही देखते अपनी जीवन लीला समाप्त करली। अमरसिंह फूट फूट कर रोने लगे। सरदारों ने भी महाराणा के चरणों को स्पर्श किया। फिर आँसुओं की श्रद्धांजलि अर्पित कर दाह-क्रिया की तैयारी करने लगे।

वीर चूड़ा मणि, महाराणा प्रताप की मृत्यु से देश में हाहाकार मच गया। उस पर शोक की घटा घिर आई। कौन रोया, कौन नहीं रोया, इसकी तरफ़ ध्यान न देकर छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब सब अश्रुपात करने लगे। वे रोये जो उन्हें अपना हृदय सम्राट समझते थे। और वे भी रोये जिन्हों ने आजीवन उन से विरोध किया था। जो जो रो सके वे रोये और खूब रोये। रोकर उन्हों ने आँसुओं से अपनी



प्रताप का सहृदय शत्रु अकबर

हृदय ज्वाला शान्त की। अकबर ने जब महाराणा की मृत्यु का हाल सुना तो वह भी स्तब्ध रह गया। दुःखी होकर उसने महाराणा की पवित्र स्मृति में दो आँसू ढलका दिये। उसी समय एक चारण ने यह छप्पय कहा—

अस लेगो अण दाग, पाघ लेगो अण नामी
गौ आड़ा गवड़ाय, जिको बहतो धुरवामी
नव रोजे नहँ गयो, न गौ आतसां नवल्ली
न गौ झरोखां हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली
गहलोत राण जीती गयो, दसण मूंद रसण डसी
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत शाह प्रतापसी।

अर्थ—हे गुहिलोत राणा प्रतापसिंह ! तेरी मृत्यु की खबर सुन शाह (अकबर) ने दाँतों तले जीभ दबाई, और निश्वास के साथ आँसू टपकाये, क्योंकि तूने अपने अश्व के दाग़ नहीं लगने दिया, अपनी पगड़ी को किसी के सामने नहीं झुकाया, सब से उल्टा बोलकर तू अपने यश के गीत गवा गया। अपने बांये कंधे से तू अपने राज्य के धुरे को चलाता रहा। न कभी तू नौ रोज़ के उत्सव में सम्मिलित हुआ, न कभी शाही डेरों में गया, और न कभी शाही झरोखों के नीचे ही खड़ा रहा। तेरे रोब का दबदबा दुनियाँ पर जमा हुआ था। अतएव सब प्रकार से तेरी ही विजय हुई है। इस प्रकार समस्त संसार को रोता विलखता छोड़ हिन्दू-धर्म का वह स्तम्भ सर्वदा के लिये टूट कर गिर गया।

प्यारे पाठको ! वीरवर प्रताप की वीरता के संबंध में आपने पिछले पाठों में बहुत कुछ पढ़ा है। परन्तु यह मत समझियेगा कि वे केवल वीर ही थे, और दूसरे मानवोचित गुणों का उन में

अभाव था। नहीं, ऐसा समझना भूल होगी। प्रताप में अलौकिक प्रतिभा थी। राज काज में, प्रजा पालन में, सैन्य संचालन में, सङ्गठन में और महा मदान्ध शत्रुओं का दमन करने में, उन्हों ने जो प्रतिभा दिखाई, उसकी तुलना नहीं हो सकती। प्रताप केवल एक वीर और साहसी योद्धा ही न थे। उन में विशेषता यह थी कि शरीर की पुष्टता के साथ २ उनका मस्तिष्क भी उच्च था। अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों पर उनका समान अधिकार था। कुछ साधनों के न होते हुए भी अकबर जैसे महान् सम्राट की असंख्य सेना से लोहा लेना और अपने आपको मिटा कर भी स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति की रक्षा करना एक मामूली बात नहीं है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्य का शारीरिक और मानसिक बल अपनी चरम-सीमा पर पहुंचा हुआ हो। प्रताप के चरित्र की यही एक पहली विशेषता है। इसी कारण उनका नाम भी राम नाम की तरह प्रत्येक भारतवासी की ज़बान पर है। हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिये जो जो कष्ट महाराणा ने झेले, वे राजस्थान के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखे हुए हैं, और लिखे रहेंगे। महाराणा को संसार छोड़े एक युग होगया, परन्तु उनकी सौम्य, शांत और गंभीर मूर्ति आज भी भारत वासियों के मानस पटल पर खिंची हुई है। महाराणा की कीर्ति के गीत अरावली की प्रत्येक चोटी और घाटी में आज भी सुनाई पड़ते हैं। मेवाड़ के अणु अणु पर वीरवर प्रताप के प्रबल प्रताप की छाप लगी हुई है। और मेवाड़ का प्रत्येक घर, प्रत्येक बन, प्रत्येक खेत महाराणा की अमिट स्मृति से पवित्र बना हुआ है।

बाईसवां अध्याय

शक्तिसिंह के पुत्र

हल्दी घाटी के युद्ध के बाद शक्तिसिंह ने भी अकबर का साथ छोड़ दिया और भैंसरोड़ गढ़ में रहने लगे। जिस समय उनका देहान्त हुआ, उनके सोलह लड़के मृत्युशय्या के पास खड़े थे। जब वे मर गये तो सब से ज्येष्ठ पुत्र ने कहा कि पन्द्रह भाई दाह क्रिया करने के लिये शव के साथ जावेंगे और मैं पीछे दुर्ग की रक्षा करूंगा। बड़े भाई के इस कथन से किसी को भी कोई आपत्ति न हुई, परन्तु जब पिता का अग्नि संस्कार कर सब घर लौटे और क़िले को भीतर से बन्द पाया तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उनके मन में बड़ा संदेह हुआ। बाहर खड़े २ सब नाना प्रकार की कल्पनाएं कर रहे थे कि इतने में बड़ा भाई खिड़की में से सिर निकाल कर बोला,—"भैंसरोड़ गढ़ इतने व्यक्तियों का भरण पोषण नहीं कर सकता। अच्छा होता यदि किसी दूसरे स्थान पर जाकर आप अपनी जीविका का प्रबन्ध कर लेते।" बड़े भाई का ऐसा रूखा व्यवहार देख कर भी शक्तावत वीरों ने उसके विरुद्ध ज़बान न हिलाई। उन्हों ने सरल भाव से यही कहा कि अच्छी बात है, हमारे घोड़े और हथियार हमें दे दीजिये। हम अभी यहां से चले जावेंगे। उनके घोड़े और हथियार उन्हें दे दिये गये और उसी वक्त सब के सब शक्तावत वीर ईडर की ओर चल पड़े।

भांति भांति के कष्ट सहते हुये सब वीर ईडर पहुंचे। वहां उनका बड़ा सम्मान हुआ और तब से वे वहीं रहने लगे। इस समय मेवाड़ पर राणा अमरसिंह का राज्य था। मेवाड़ का बहुत सा भाग मुग़लों के अधिकार में चला गया था। अकबर की आज्ञा से उसके पुत्र सलीम ने मांडल, मोही, बागौर, ऊँटाला आदि कई स्थानों पर थाने बिठला दिये थे। इसलिये राणा मुग़लों से युद्ध करने के लिये रंगरूट भरती कर रहे थे। इसी समय उनके मंत्री ने शक्तिसिंह के पुत्रों की याद दिलाई। शक्तावत सब वीर थे। इसलिये राणा ने एक दूत भेज कर उन्हें अपने पास बुलाकर राजपूत सेना में भरती कर लिया। राणा ने सब भाइयों को सर्व प्रकार से योग्य पाया। सब भाई बड़े ही वीर, साहसी और उद्योगी थे। विशेष कर बल्लूसिंह बड़ा ही वीर और युद्ध कुशल व्यक्ति था। सब लोग उसे देव समझते थे। वह राणा की भलाई में अपनी भलाई और उनके दुखों में अपना दुःख समझता था। जब कभी लड़ाई होती तो बल्लूसिंह का घोड़ा सब से आगे मिलता था। एक दिन युद्ध में बल्लूसिंह ने इस ज़ोर और कुशलता से तलवार चलाई कि मुग़ल सेना नौ दो ग्यारह होगई। इस से राणा बड़े प्रसन्न हुये, और उनके मुँह से निकल गया कि अब से हरावल (सेना का अग्र भाग) में शक्तावत रहेंगे।



शाहज़ादा सलीम

हरावल में रहना उस समय बड़े ही गौरव की बात समझी जाती थी। अभी तक चूंडावत ही राणा से उतर कर समझे जाते थे, इसलिये हरावल में रहने का सम्मान भी उन्हीं को प्राप्त था। शक्तावतों के कारण अपने सम्मान को आघात पहुँचते देख, सब चूंडावत भी अपने अधिकारों के लिये मरने मारने को कटिबद्ध होगये, और राणा के पास जाकर कहने लगे कि हम अपने रहते हुये शक्तावतों को कभी भी हरावल में न रहने देंगे। मर जायँगे, पर इस तरह अपमानित न होंगे। शक्तिसिंह के पुत्र चाहे आपके कितने ही निकट के संबन्धी क्यों न हों, हम अपने वंशगत अधिकारों को नहीं छोड़ सकते। इधर शक्तिसिंह के पुत्र कहते थे कि जो स्थान उन्हें एक बार मिल चुका है, उसे वे नहीं छोड़ सकते। राणा बड़ी दुविधा में पड़े। बहुत तर्क-वितर्क हुआ, पर किसी निर्णय पर न पहुँच सके। राणा को भय था कि दोनों दल कहीं आपस में न कट मरें। समझौते का कोई अन्य उपाय न देख राणा ने कहा कि हरावल उसी पक्ष का रहेगा जो ऊँटाले के गढ़ में पहले प्रवेश करेगा। राणा की यह बात सब को पसंद आई। आज्ञा सुनते ही चूंडावत और शक्तावत अपनी २ सेनाएँ लेकर बिना किसी विलम्ब के वाद विवाद छोड़ कर ऊँटाले की ओर बढ़े।

ऊँटाले का क़िला ऊँची भूमि पर बना हुआ था। उसके चारों ओर परकोटा था और बीच में रक्षकशाला बनी हुई थी। इस के पास ही दुर्ग रक्षक का महल था जिस के चारों ओर खाई खुदी हुई थी। क़िले में जाने का केवल एक ही मार्ग था। सब से पहिले शक्तावत वीर वहां पहुँचे और क़िले पर धावा करने का उपाय सोचने लगे। चूंडावत अभी तक वहाँ न पहुँचे थे।

उनका कहीं कोसों तक पता न था। इसलिये शक्तावत सोचने लगे कि हमने मैदान मार लिया। किन्तु जब वे क़िले की दीवार पर चढ़ने का इरादा करने लगे तो उन्हें यह सोचकर बड़ा दुःख हुआ कि जल्दी और घबराहट में वे रस्सियां और सीढ़ियां लाना भूल गये हैं। उनका हर्ष शोक में बदल गया और सब के सब हाथ मल २ कर पछताने लगे। दुर्ग में प्रवेश करने का एक मात्र रास्ता अब फाटक था। बस, सब मिलकर उसी को तोड़ने का प्रयत्न करने लगे। क़िले वालों को जब इसका पता लगा तो वे भी द्वार पर आधमके। दोनों दलों में मारकाट और गुत्थम गुत्था शुरू हुई। शक्तावत सरदार बल्लूसिंह ने देखा कि फाटक बहुत कमज़ोर हो गया है, इसलिये उस पर यदि हाथी ढकेल दिया जाय तो संभव है कि वह बिलकुल टूट कर नीचे गिर जाय। इसी विचार से उसने महावत को हाथी आगे बढ़ाने को आज्ञा दी। उसने वैसा ही किया। हाथी आगे बढ़ा अवश्य, किन्तु दरवाज़े के बाहर की तरफ़ तीखे, भाले नुमा कीले लगे हुये थे। इसलिये वह घबड़ाकर पीछे हट गया। महावत ने अंकुश मार कर फिर ज़ोर लगाया, पर सब निष्फल हुआ। एक धीमी सी टक्कर लगाकर हाथी पीछे हट गया। इतने में पीछे से चूंडावतों के आ पहुँचने की ख़बर मिली। इस से भय और निराशा की बात और क्या हो सकती थी? शक्तावत सरदार बल्लूसिंह का दिल धड़कने लगा। कुछ दूसरा उपाय न देखकर वह उन कीलों पर, जो किवाड़ में लगे हुये थे, चढ़ गया। अपनी पीठ फाटक में अड़ा दी और महावत से चिल्लाकर बोला कि हाथी को फौरन मेरे ऊपर हूल दे, नहीं तो तेरा सिर उड़ा दूँगा। महावत जानता था कि लड़ाई में राजपूत

प्राणों की परवाह नहीं करते। उसने ज़ोर से एक अंकुश हाथी के मारा। अंकुश के लगते ही हाथी चिंघाड़ उठा और क्रोध में आकर उसने एक टक्कर ज़ोर से मारी। इस टक्कर से लोहे के नुकीले कीले बलूसिंह के आर पार होगये। किवाड़ खंड २ होगये और उसकी छिदी हुई देह के साथ ही धड़ाम से ज़मीन पर आ गिरे।

चूँडावत मार्ग से अपरिचित थे, और रात भी अंधेरी थी, इसलिये सारी रात इधर उधर भटकने में लग गई। सुबह होने पर उन्हें एक भील ने रास्ता बतलाया। वे जानते थे कि शक्तावतों ने दुर्ग पर कभी का अधिकार कर लिया होगा। तो भी वे गिरते पड़ते दुर्ग तक पहुँच गये। वहाँ जाकर जब उन्हों ने देखा कि शक्तावत अभी तक सफल प्रयत्न नहीं हुये हैं, तो उन में साहस का संचार हुआ, और जल्दी क़िले में पहुँचने का उद्योग करने लगे। सीढ़ियां लगा कर रावत जैतसिंह क़िले की दीवार पर चढ़ गया और अन्दर कूदने ही को था कि इतने में एक गोली उसकी छाती पर लगी जिस से कटे हुए पेड़ की तरह वह ज़मीन पर आ गिरा। उसको गिरते देख शक्तावतों ने अपनी विजय का डंका पीटना शुरू किया। फिर भी चूंडावतों ने साहस न छोड़ा। ज़मीन पर गिरते ही जैतसिंह ने कहा कि मेरा सिर काट कर क़िले के अन्दर फेंक दो। चूँडावतों ने ऐसा ही किया। उन में से कुछ सीढ़ियों की सहायता से दीवार पर चढ़ गये और जैतसिंह के सिर को क़िले में फेंक दिया। इसी समय शक्तावतों ने फाटक के किवाड़ तोड़े और विद्युत वेग से अन्दर घुसने लगे। घमासान युद्ध हुआ। मुग़ल भाग गये और राजपूतों अन्दर अपना झंडा गाड़ दिया।

अमरसिंह के पास जब ऊँटाला की विजय की सूचना पहुँची तो वे दौड़े हुए आये। चारों ओर लाशों का ढेर पड़ा था। शक्तावत सरदार बल्लूसिंह की देह कीलों से छिदी दरवाज़े पर पड़ी थी। पास ही उस के चार भाई मरे पड़े थे। केवल बल्लूसिंह में कुछ साँस बाक़ी थी। अत्यन्त ही शोक और दुःख प्रकट करते हुए राणा ने बल्लूसिंह के भग्न शरीर की ओर दृष्टिपात किया। मरते हुए बल्लू का हाथ प्रणाम करने के लिये मस्तक तक उठा और उसके मुंह से यह आवाज़ निकली—



महाराणा अमरसिंह

दूना दातार, चौगुना जुझार
खुरासानी मुलतानी का अग्गल

सम्मान के लिये मरते हुए बल्लू की दशा देखकर राणा का हृदय द्रवीभूत होगया। बड़े ही सम्मान पूर्ण शब्दों में उन्हों ने उसका अभिवादन किया और वहाँ से चले गये। दोनों पक्षों को अपने २ अधिकारों के लिये लड़ कर आपस में कट मरने का राणा

को दुःख हुआ, परंतु साथ ही फल स्वरूप ऊँटाला का दुर्ग इनके अधिकार में आगया था, इसलिये आनन्द भी हुआ। राणा ने दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा बढ़ाई, परन्तु हरावल में रहने का अधिकार चूंडावतों को ही प्राप्त हुआ, क्योंकि जैतसिंह का मस्तक क़िले में पहले पहुँचा था।

तेईसवां अध्याय

महाराणा अमरसिंह

चूंडावतों और शक्तावतों के पारस्परिक झगड़े का एक परिणाम यह तो हुआ कि शाही थाने मेवाड़ से उठ गये और सलीम को हार कर मेवाड़ से चला जाना पड़ा। परन्तु अकबर की नीति पर इसका असर नाम मात्र को भी न पड़ा, क्योंकि मेवाड़ को हस्तगत करने की बलवती लालसा उसके हृदय से फिर भी न हटी। हटती भी कैसे? उसकी तो यह धारणा दृढ़ होगई थी कि समस्त भारत का राज्य भी यदि हाथ लग जाय और मेवाड़ न मिले तो सब व्यर्थ है। फिर उसके पास सेना की भी कमी न थी। मुग़ल सेना एक बार हारकर भाग आई अथवा युद्ध में कट गई, तो क्या हुआ? चार उसकी जगह तैयार थीं। यदि एक योद्धा मारा जाता तो दस उसकी जगह भेजे जा सकते थे। अतः सलीम की गत पराजय से निराश न होकर अकबर ने फिर उसी को अमरसिंह से लड़ने के निमित्त भेजा। परन्तु राजपूतों के सामरिक बल का अनुभव उसे पहली बार ही हो चुका था। इसलिये मेवाड़ में न आकर वह इलाहाबाद चला गया और वहाँ से टालमटूल करता रहा। इसी बीच में अकबर का देहान्त हो गया, जिस से मेवाड़ को आधीन करने के सब स्वप्न, सब आशाएं, सब अरमान भी उसी के साथ क़ब्र में सो गये।

अकबर की मृत्यु के उपरांत सलीम जहाँगीर के नाम से हिन्दुस्तान का बादशाह हुआ। उसने अपनी पिता की नीति का अनुसरण किया और मेवाड़ से छेड़-छाड़ करने का कार्य जारी रक्खा। जहाँगीर की आज्ञा से परवेज़, महाबतख़ाँ, अब्दुल्लाखां और बासु जैसे प्रख्यात रणविशारद सेनापतियों ने समय २ पर कई चढ़ाइयाँ कीं, परंतु लाभ कुछ भी न हुआ। प्रत्येक बार भग्न मनोरथ और नत मस्तक होकर उन्हें दिल्ली लौटना पड़ा। राजपूत कभी थानों में आग लगा देते, कभी शाही लश्कर को लूट लेते और कभी रात को धावा मार कर रसद का सामान लेकर चले जाते थे। ये ख़बरें जब जहाँगार के पास पहुंचतीं, तो उसका ख़ून सूख जाता था। परन्तु वह करता ही क्या? अपनी तरफ़ से उसने कोई कसर बाकी थोड़े ही रक्खी थी। अंत में झुंझला कर और अपने सेनापतियों से काम निकलता न देख जहाँगीर स्वयं मेवाड़-विजय के लिये अपनी राजधानी से रवाना हुआ। परन्तु अजमेर तक पहुँचते २ उसके विचारों ने फिर पलटा खाया, जिस से वह तो वहीं रुक गया और शाहज़ादे ख़ुर्रम को, विजय होने पर खूब पुरस्कार देने का वादा कर, मेवाड़ की तरफ़ भेजा।

अमरसिंह और राजपूतों की युद्ध प्रणाली के बारे में खुर्रम अपने पिता से बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिये मेवाड़ में पैर रखते ही उसने भी अपनी युद्ध-शैली बदली। खुले मैदान में लड़ना व्यर्थ समझ उसने अपनी सेना को हुक्म दिया कि वह मेवाड़ की प्रजा को तंग करे। फिर क्या था? शाही सेना जहाँ पहुँचती वहाँ गाँवों को लूटती, घरों में आग लगा देती, अबोध बालकों और निर्दोष स्त्रियों को पकड़ती, और कुंए- बाव-

लियों में विष डाल कर चली जाती थी। भोले-भाले बच्चों और कुलीन ललनाओं पर दिन दहाड़े अत्याचार होने से देश में चारों ओर हाहाकार मच गया। राणा अमरसिंह छाती पर पत्थर रखकर यह दशा देख रहे थे। परंतु चारा ही क्या था? प्रताप के यह अंतिम शब्द—'अमरसिंह से मेवाड़ के गौरव की रक्षा न हो सकेगी' रह रह कर उनके कानों में गूँज रहे थे। इसलिये उन्हों ने भी प्रण कर लिया था कि मर जायंगे, पर स्वाधीनता को न छोड़ेंगे।

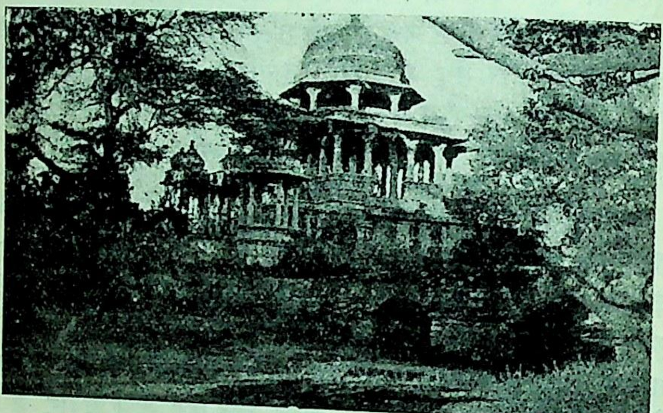

शाहज़ादा खुर्रम

राणा की दृढ़ प्रतिज्ञा और देश की दुर्दशा सरदारों से अधिक न देखी गई। सब ने मिलकर यह तय किया कि धन-जन और अस्त्र-शस्त्र के अभाव में यदि दिल्ली से संधि कर ली जाय तो इस में कोई हानि नहीं है। हमने जहाँ तक हो सका अपने कर्त्तव्य को संभाला। अब हमारा काम यही है कि जैसे भी हो सके देश पर होते हुए अत्याचारों को रोकें। सरदारों ने मिलकर संधि करना निश्चय तो कर लिया, परंतु वे जानते थे कि राणा कभी भी हमारे प्रस्ताव और निर्णय को मंजूर नहीं करेंगे। मुग़ल दरबार में राजा महाराजाओं की क्या दशा होती थी, और उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाता था, इसे राणा भली भांति जानते थे, और सरदार भी। मुग़ल सम्राट के आधीन राजाओं, उमराओं और अमीरों को शाही झरोखों के नीचे खड़े

खड़े झुक कर सलाम करना पड़ता था। कई घंटों तक बादशाह के सामने हाथ बाँधे खड़ा रहना पड़ता था। बादशाह की आज्ञा के अनुसार ज़िलों में जाकर मुसलमान कर्मचारियों के नीचे रहकर काम करना पड़ता था, और कभी २ बादशाह तुच्छ बात पर नाराज़ होकर उनकी डयोढ़ी मुआफ़ कर देता, अथवा उन पर जुरमाना कर देता था। ऐसी हालत में अमरसिंह को संधि के लिये कहना और फिर उन से स्वीकृति ले लेना, एक कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव बात थी। इसलिये सरदारों ने यह तय किया कि इस सम्बन्ध में महाराणा से पूछताछ न कर उनके बड़े पुत्र कर्णसिंह द्वारा संधि की बात चलानी चाहिये।

सब मिलकर कर्णसिंह के पास गये, और किसी न किसी तरह उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। फिर एक संधिपत्र शाहज़ादे खुर्रम के पास भेजा गया। संधिपत्र में चार शर्तें मख्य थीं। उन में एक यह थी कि महाराणा शाही दरबार में हाज़िर न होंगे। खुर्रम संधि के लिये पहिले ही से आतुर हो रहा था। ऐसे सुवर्ण अवसर को स्वयं आते देख कर उसे अपार हर्ष हुआ और चट से सब शर्तें मंजूर करलीं। अमरसिंह को इस संबन्ध में अभी तक कुछ ज्ञान न था। जब शाही फ़रमान आगया, उन्हें ख़बर दी गई। उसे सुनकर वे ऐसे होगये, मानो उन्हें लक़वा मार गया हो। दुःख और निराशा की सांस खींचते हुये उन्हों ने कर्णसिंह और सरदारों से कहा कि यह काम तुमने अच्छा नहीं किया। तुमने मेरे नाम को कलंकित और वंश को अपमानित कर दिया है। ख़ैर, तुम सब लोगों की जब यही इच्छा है कि दूसरों के आधीन होकर रहें तो मैं कर ही क्या सकता हूँ।

संधि होजाने के कुछ दिन बाद कुंवर कर्णसिंह शाही दरबार में गये। वहाँ बादशाह ने उनका अच्छा सत्कार किया, और अपनी दाहिनी ओर खड़े रहने को स्थान तथा एक जड़ाऊ तलवार देकर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। फिर वे सब परगने जो मेवाड़ से युद्ध करते समय बादशाह ने लेलिये थे, राणा को लौटा



महासतियों में अमरसिंह की छत्री

दिये गये। उनके साथ चित्तौड़ भी राणा के हाथ में आ गया, परंतु इस शर्त पर कि उसकी मरम्मत न कराई जाय। यह सब हुआ, किन्तु राणा अमरसिंह को जो धक्का इस संधि से लगा, उस से वे फिर न संभल सके। उनके चित्त में इस से बड़ी ग्लानि पैदा हुई। राजकाज छोड़ एकांत वास कर लिया, और जब तक जीवित रहे, अमर महल से बाहर न निकले। मरने के बाद ही उनकी देह के दर्शन लोगों को आहड़ में गंगोद्भव के पास जहाँ वह दाह क्रिया के लिये लाई गई थी, हुए।

महाराणा अमरसिंह की छत्री अब तक वहां विद्यमान है। महासतियों में सब से पहिली छत्री इन्हीं की बन थी, और इन्हीं के देहान्त के समय से मेवाड़ के महाराणाओं का अग्नि-संस्कार महासतियों में होने लगा है। महाराणा अमरसिंह का स्वर्गवास सन् १६२० ईस्वी में हुआ।

चौबीसवाँ अध्याय

वीर चूंडावत सरदार

औरङ्गज़ेब के समय की बात है, रूपनगर के राजा रूपसिंह के चारूमती नाम की एक अत्यन्त ही सुन्दर कन्या थी। जब कन्या विवाह योग्य हुई तब औरङ्गज़ेब ने उस के पिता को पत्र लिखा कि मैं तुम्हारी पुत्री से विवाह करने के लिये आरहा हूं, सब सामग्री तैयार रखना। चारूमती के पिता की इच्छा अपनी कन्या को एक म्लेच्छ के घर में देने की न थी, परन्तु साथ ही उस में औरङ्गज़ेब के विरुद्ध खड़े होने का साहस भी न था। पत्र पढ़ कर उसका कलेजा धक सा हो गया, और वह कुछ भी स्थिर न कर सका कि अब क्या करें और क्या न करें। अन्त में उस ने वह पत्र चारूमती को दे दिया। पढ़ कर चारूमती के मुख पर भी विषाद की रेखा खिंच गई, पीपल के पत्ते की तरह उस की समस्त देह थरथर काँप उठी और पिता को निःसहाय तथा अपने आप को अबला देख कर उस का हृदय विदीर्ण होने लगा। विष, छुरी, अग्नि, फाँसी, हत्या आदि आत्म रक्षा के स्त्री-सुलभ साधन एक-एक कर उस की आँखों के सामने दौड़ने लगे। इतने में उसे वीर केसरी राणा राजसिंह का स्मरण हो आया, जिस से उस के व्यथित हृदय को कुछ शान्ति मिली; और हृदय में आशा का सञ्चार हुआ। फिर कुछ देर तक सोचकर उस ने महाराणा को इस आशय का पत्र लिखा :—

महाराजाधिराज !

मुझ से आप का परिचय नहीं। क्या कह कर सम्बोधित करूँ? परिचय के लिये लिखती हूँ कि मैं रूपनगर की राजकुमारी हूँ; पवित्र क्षत्रिय कुल में मेरा जन्म हुआ है। यवन सम्राट औरङ्गज़ेब मेरे साथ विवाह करना चाहता है। शीघ्र ही वहाँ से सेना आने की सूचना भी पिता को मिल चुकी है। मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है कि प्राण जायँ तो भले ही जायँ, पर अपने पवित्र वंश में कलङ्क न लगाऊँगी। आप शरणागत की रक्षा करने वाले हैं। मैं आप की शरण आई हूं। रक्षा कीजिये, नहीं तो एक निर्दोष कन्या की आत्महत्या का पाप आप के सिर मढ़ा जायगा। मैं जानती हूँ कि मैं आप के योग्य नहीं हूँ। आप के योग्य होने का प्रयत्न करना ही मेरे लिये अनधिकार चेष्टा है। परन्तु आप हिन्दू हैं; क्षत्रिय कुल दीपक हैं; देश के गौरव हैं। एक हिन्दू बाला के धर्म, वंश और सतीत्व की रक्षा अवश्य करेंगे, इस का मुझे विश्वास है। स्मरण रहे कि यदि मुझे दिल्ली जाना पड़ा तो रास्ते में ही मैं अपना अन्त कर दूँगी। जिस तरह सिंहिनी सिंह का और हंसिनी हंस का साहचर्य्य नहीं छोड़ सकती, उसी तरह एक क्षत्राणी भी क्षत्रिय वंश को छोड़ कर मुग़लानी नहीं बन सकती। छः दिन तक मैं आप के आने की प्रतीक्षा करूँगी। यदि इस अर्से में आप नहीं आये तो मैं उस स्थान को चली जाऊँगी, जहाँ मुझे औरङ्गज़ेब का कुछ भी भय न रहेगा।

आप की दासी,

चारुमती

जब यह पत्र महाराणा के पास पहुंचा, वे क्रोध से झल्ला उठे और उसी दिन संध्या को उन्हों ने सब सरदार सामन्तों की सभा की। सभा भवन आज वीरों से खचाखच भर गया; उस में तिल रखने को भी जगह न थी। चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था! यदि उस समय सुई भी गिरती तो उसकी आवाज़ सुनाई न देती। बरछी, ढाल, कृपाण, कटार, आदि हथियारों से सुसज्जित वीर चुपचाप महाराणा के मुख की ओर देख रहे थे। वीर समूह को देखकर यही मालूम होता था मानो वीर रस शान्त रस में छिप गया हो! थोड़ी देर तक अटल निस्तब्धता रही। फिर, राणा जी ने चारुमती का पत्र पढ़ कर सुनाया। सुन कर सब स्तब्ध रह गये। सब में वीर रस उमड़ आया, और सब ने सलाह दी कि चारुमती के धर्म्म की रक्षा अवश्य होनी चाहिये। परन्तु महाराणा ने कहा—"सरदारो! मेरी पचास हज़ार सेना लेकर औरंगज़ेब को रोक सके, किस में ऐसा साहस है? कौन ऐसा वीर है? यदि आप यह मानते हैं कि चारुमती के धर्म्म की रक्षा करना आपका पहला कर्त्तव्य है तो आपको अपना रक्त बहाना पड़ेगा, सर कटाना पड़ेगा और जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। केवल सलाह देने से काम नहीं चलेगा। कुछ करके दिखाना होगा। रणक्षेत्र में उतर कर आपको प्रमाणित करना होगा कि बापा से वीर, सांगा से साहसी, और प्रताप से पराक्रमी आज भी मेवाड़ में विद्यमान हैं।"

महाराणा के इस भाषण से सभा में एक बार फिर से सन्नाटा छा गया। कुछ वीरों के मस्तक झुक गये, और कुछ विवेक शून्य नेत्रों से एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। महाराणा

को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ। सिंह की तरह गर्जना करते हुए वे फिर बोले—"जब बापा के वंशजों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे एक बालिका के धर्म्म की रक्षा कर अपने पूर्वजों के गौरव का निर्वाह कर सकें, तब तो हो चुका उनका क्षत्रियत्व, वीरत्व, और मनुष्यत्व ! भाइयो, आज से आपको महाराणा प्रताप की सन्तान होने का, बापा के रक्त का और मेवाड़ में जन्म लेने का गर्व नहीं होना चाहिये। यह प्रश्न एक राजकुमारी की रक्षा का ही नहीं, वरन् धर्म, देश और हिन्दुत्व की रक्षा का



महाराणा राजसिंह

है। औरंगज़ेब ने आज हिन्दुओं की कैसी बुरी दशा कर रक्खी है. आप को भली भाँति मालूम है। फिर भी आपका यह मौन ! अफ़सोस ! सख़्त अफ़सोस !! भाइयो ! सोचो तो सही कि यदि आज आप वीरवर बापा के वंशज होकर भी जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते हैं तो संसार आपके लिए क्या कहेगा-किस प्रकार लोगों को आप अपना मुँह दिखाओगे ?

सब लोग चित्र लिखित की तरह निश्चेष्ट होकर महाराणा

के भाषण को सुनते रहे। किसी ने उठ कर एक शब्द भी न कहा। परन्तु उन में एक युवक ऐसा भी था जिसकी भृकुटि राणा की बातों से तन रही थी, जिसकी आँखों में .खून उतर आया था और जिसके होठ फड़क रहे थे। वह था अठारह वर्षीय युवक चूंडावत सरदार। महाराणा की तरफ़ देख कर वह कुछ आगे बढ़ा और बोला "जब तक चूंडावत की इन भुजाओं में शक्ति है और उसके शरीर में दम है तब तक यवन सेना का एक भी सिपाही रूपनगर में प्रवेश न कर सकेगा। हमारे पूर्वजों ने नाना प्रकार के कष्ट सहकर, अपना रक्त माँस ख़र्च कर और हड्डियाँ घिस घिस करके अपने धर्म, देश और गौरव की रक्षा की है। यह कैसे हो सकता है कि हम उन्हीं वीरों की संतान होकर उनके निर्मल यश पर स्याही पोत दें ? मृत्यु स्वीकार है, लोक निन्दा नहीं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि चार दिन तक औरंगज़ेब तो क्या, उसकी चौदह पीढ़ी के पुरखे भी रूपनगर की सीमा नहीं देख सकते। राज कन्या चारूमती आज से मेवाड़ की महाराणी और हमारी मातेश्वरी हुई। शरीर में रक्त रहने तक हम अपनी मेवाड़ेश्वरी की रक्षा करेंगे, करेंगे और अवश्य करेंगे। तन, धन और जीवन देकर भी करेंगे। बोलो महाराणा की जय ! महारानी चारूमती की जय !! सभा में बड़े ज़ोर से करतल ध्वनि हुई और जयनाद से दरबार प्रतिध्वनित हो उठा। महाराणा बड़े प्रसन्न हुए। सभा विसर्जन हुई। फिर सब वीरगण अपने अपने घर आये और युद्ध-सामग्री जुटाने लगे।

घर पर आकर चूंडावत ने सारा वृत्तान्त अपनी पत्नी से कह सुनाया और बोले-"प्रिये, कल मैं ऐसे रण में जा रहा हूँ

जहाँ से लौटने की आशा मुझे बहुत कम है। अपने प्राणों का मुझे कुछ भी मोह नहीं। क्षत्रियों के लिये रणभूमि ही पुनीति भागीरथी है। शोक है तो इस बात का कि तुम्हें अकेली छोड़े जाता हूं। अभी तुम्हारी युवावस्था है। संसार का कुछ भी सुख तुम ने नहीं भोगा। तुम मेरे पीछे क्या करोगी ?" सुनकर चूंडावत की स्त्री ने उत्तर दिया,-"स्वामिन्! क्या इस तुच्छ बात के लिये आप इतना शोक प्रकट कर रहे हैं। विश्वास रखिये कि आपके पीछे मैं धर्म पूर्वक अपना जीवन बिताऊँगी। मुझे इस बात का अभिमान रहेगा कि मैं उस वीर की पत्नी हूँ जिसने देश के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं। संसार आप के यश के गीत गायगा, मैं इसी में अपना सौभाग्य समझूंगी। इतना तो मैं भी समझती हूं कि देश द्रोह करके लज्जास्पद रीति से जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा स्वदेश-हितार्थ कष्ट सहकर मरना अधिक श्रेयस्कर है। आप जाइये। मैं आपके इस आचरण से अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हूं।"

दूसरे दिन युद्ध की तैयारियां होने लगीं। चूंडा की स्त्री ने कहा,-आप युद्ध में जा रहे हैं; आइये मैं आपका वीर वेष बना दूँ। यह कह कर उसने चूंडावत को केसरिया बाना पहिना दिया। उसकी कमर में तलवार बांध दी। पीछे ढाल लटका दी और हाथ में भाला देकर बोली — मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि आपका भाला हज़ारों यवनों का नाश करे।

भगवान भास्कर के भासमान होते ही चूंडावत समरस्थली की ओर अग्रसर हुए। घोड़ा सरपट भागा जा रहा था। आज यवनों का नाश होगा, और यह शरीर जन्मभूमि के काम आवेगा, यह सोच सोचकर उनका हृदय आनन्द से बार २ नाच

उठता था। घर से थोड़ी ही दूर पर उन्हें अपना कुल पुरोहित मिला। घोड़ा रोक कर बोले—आचार्य जी, जब आप उदयपुर पहुँचें तब मेरी पत्नी से कह देना कि वह धर्म पूर्वक रहें। यह कह कर उन्हों ने फिर घोड़ा फेंकना शुरू किया।

परोहित ने आकर चूंडावत की स्त्री को यह संदेशा सुनाया। उस वीर ने सोचा कि जब तक पति का चित्त दुविधा में रहेगा तब तक वे दत्तचित्त होकर युद्ध में न लड़ सकेंगे। यह सोचते ही उसने पुरोहित से कहा कि मैं अपना सिर काटे देती हूं। उसे आप मेरे पति को दे देना। फिर उस ने एक तेज़ तलवार से अपना सिर काट डाला! आचार्य ने लेजा कर उसे चूंडावत को दे दिया। देखते ही चूंडावत की आंखों में आँसू आगये, और दुपट्टे में बाँध कर उसे पुष्पमाला की तरह गले में पहिन लिया।

इधर राणा जी १५०० योद्धाओं को साथ लेकर रूपनगर गये और चूँडावत अपने पचास हज़ार राजपूतों के साथ आगरे से रूपनगर जाने के मार्ग में आ डटा। यहीं से होकर औरंगजेब रूपनगर जाने को था। डेरा डालने के उपरान्त चूंडावत ने अपने कुछ गुप्तचर शाही लश्कर की ख़बर लेने के लिये भेजे। उन्हों ने लौट कर ख़बर दी कि बादशाह हाथी पर बैठा हुआ, ससैन्य इधर ही आ रहा है। सुन कर सब लोग उस का सामना करने को तैयार होगये। थोड़ी देर बाद बादशाह भी अपने दल-बल सहित आ पहुँचा और अपने मार्ग को रुका हुआ देख कर चूँडावत से कहला भेजा कि हम आप से लड़ने नहीं आये हैं; हमको उदयपुर नहीं जाना है। हम तो किसी दूसरे स्थान पर जा रहे हैं। चूंडावत ने उत्तर दिया-

"इस प्रकार मार्ग नहीं मिल सकता। हम क्षत्रिय हैं। तुम से हम नहीं डरते। यदि आगे जाने की इच्छा हो तो हमको जीत कर जा सकते हो।" फिर क्या था? लड़ाई आरम्भ होगई। लोहे से लोहा बजने लगा। इधर महाराणा की जय और उधर 'दीन' 'दीन' कह कर योद्धा प्रेत की तरह लड़ने लगे। दिन भर घमासान युद्ध होता रहा, परन्तु किसी भी पक्ष की पराजय न हुई। दिवस का अवसान हुआ। इसलिये दोनों सेनाएँ अपने २ शिविर में लौट गईं।

प्रातःकाल होते ही फिर बादशाह ने कहलाया कि क्यों तुम व्यर्थ ही राह रोक कर पतङ्गों की तरह प्राण देने पर उतारू हुए हो। अब भी सँभल जाओगे तो हम चुपचाप यहाँ से निकल जावेंगे। नहीं तो तुम्हारी बोटी २ अलग कर तुम्हारे चिथड़े उड़ादेंगे। राजपूतों ने सर्वथा नाहीं करदी। इसलिये फिर युद्ध हुआ। मुसलमान यह समझ कर कि कहीं बादशाह के लिए रूपनगर पहुँचने का मुहूर्त न टल जाय, बड़े वेग से लड़ रहे थे। इधर राजपूत बादशाह को रोकने के लिये इतनी देर तक मार्ग में डटे रहना चाहते थे कि जब तक राणा जी विवाह कर कुशलता पूर्वक लौट न जायँ। दोनों पक्षों के वीरों ने प्राणों की बाज़ी लगादी। महा भयङ्कर युद्ध हुआ। उभय पक्ष के वीर अन्धे होकर रक्त की नदियां प्रवाहित करने लगे। ऐसे ही समय में औरंगज़ेब और चूंडावत का सामना होगया। उसके घोड़े ने अपने पांव बादशाह के हाथी के कुम्भ स्थल पर टिका दिये, और चूंडावत ने अपना भाला बादशाह की तरफ़ ताना, जिस से वह एक दम थर्रा उठा। चिन्ता, लज्जा, और अपमान से उसका चहरा श्रीहत होगया।

समीप था कि चूंडावत वार कर बैठता। इतने में बादशाह ने गिड़गिड़ा कर कहा—"हे राजपूत! नाहक़ क्यों मारता है? मुझे प्राण दान दे। मैं तेरी शरण आया हूँ।"

बादशाह की दीन दशा देख कर चूंडावत का हाथ रुक गया और बोला—"यवन सम्राट्, प्रतिज्ञा करो कि दश वर्ष तक मेवाड़ पर चढ़ाई न करोगे, और अभी यहाँ से सीधे दिल्ली चले जाओगे। तब तो मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ; नहीं तो यह भाला अभी तुम्हारे वक्षस्थल को छेद कर बाहर निकलता है।" औरंगज़ेब बोला—"तेरा हुक्म मेरे सिर और आँखों पर"।

चूंडावत की विजय हुई। परन्तु हाय! दुःख इस बात का है कि यह ख़ुशख़बरी अब वह किसे सुनावेगा। वह मन ही मन में सोचने लगा—"आज यदि मेरी स्त्री होती तो इस समाचार को सुन कर उछल पड़ती, और हर्ष से फूली न समाती। राणा का विवाह होगया; मेवाड़ेश्वरी की रक्षा होगई; राजपूताने का मान रह गया और इस से अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है कि मेरी पीठ पर रक्त का एक भी छींटा नहीं लगा। आज मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए।" यह सोचते हुए चूंडावत घोड़े पर से उतर पड़ा। परन्तु उसका शरीर घावों से छिन्न-भिन्न हो रहा था। कपड़े ख़ून से लाल हो रहे थे और दिन भर की थकान से अत्यन्त ही निर्बल होगया था। इसलिये घोड़े से उतर कर जब वह नीचे खड़ा हुआ धड़ाम से गिर पड़ा; उसके घावों से रक्त बहने लगा और देखते ही देखते उस ने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करली!!

पच्चीसवाँ अध्याय

महाराणा राजसिंह

वीरवर चूंडावत की वीरता के सामने अपना मस्तक झुका कर औरंगज़ेब जब आगरे पहुँचा, और वहाँ उसे पता लगा कि चारुमती का विवाह राजसिंह के साथ होगया है, तो उसे अतीव क्रोध हुआ और अपनी आशा पर पानी उड़ेलने वाले राणा राजसिंह से बदला लेने के लिये कमर कस कर तैयार होगया, परन्तु वह यह भी नहीं चाहता था कि चारुमती के प्रश्न को सामने रख कर महाराणा से छेड़छाड़ की जाय। इस लिये अपने उद्देश्य को उसने दूसरी तरह से सिद्ध करने का विचार किया। राजसिंह हिन्दू धर्म के प्रधान नेता थे।



औरंगज़ेब

इस बात को बादशाह भी जानता था। अतः उसने हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति पर हमले करने शुरू किये। उसने

जज़िया पुनः प्रचलित किया, हिन्दुओं के धर्म सम्बन्धी मेले और त्योहार बन्द कर दिये, उनकी देव मूर्त्तियाँ और मंदिर तुड़वाना प्रारम्भ किया, और चारों ओर घोषणा करवा दी कि जो कोई हिन्दू बादशाह के बनाये हुये नियमों का पालन करने में हीला हवाला करेगा, वह कोड़ों से पीटा जावेगा, उसे जेलखाने का अतिथि बनना पड़ेगा और यदि बादशाह उचित समझेंगे तो मृत्युदंड भी देंगे।

महाराणा राजसिंह औरंगज़ेब के आधीन थे। इसलिये उनके पास भी इसकी सूचना लिखकर भेजी गई। महाराणा को इस से बड़ा क्रोध और सन्ताप हुआ। औरंगज़ेब की नई और विचित्र नीति का विरोध और खंडन करते हुए महाराणा ने उसे एक पत्र लिखा, जिसका आशय यह था—"आप ने जो कर हिन्दुओं पर लगाया है, वह न्याय और सुनीति के विरुद्ध है। आप अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने में स्वतन्त्र हैं, परंतु ज़बरदस्ती करके हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की जो आपकी चाल है, वह अत्यन्त ही निन्दनीय, अधार्मिक और अदूरदर्शिता से पूर्ण है।" महाराणा ने कोई अनुचित बात नहीं कही थी। इस में औरंगज़ेब ही का भला था। परन्तु उनके पत्र की, बादशाह ने किंचित् मात्र भी परवाह न की। वह उल्टा उन से और भी अधिक नाराज़ होगया।

इसी समय एक दो घटनाएँ और ऐसी घटित हुईं, जिन से बादशाह और राणा के बीच का व्यवधान और बढ़ गया। बात यह थी कि सन् १६७८ ई० में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का देहान्त होगया। उन के अजीतसिंह नाम का एक छोटा पुत्र था। औरंगज़ेब की इच्छा इस बालक की

गर्दन साफ़ कर के मारवाड़ निगल जाने की थी। इस कारण जसवन्तसिंह के मरते ही उसने मारवाड़ ख़ालसे करली और उनकी विधवा पत्नी को बालक सहित दिल्ली आने का हुक्म किया। रानी बादशाह की कपट-लीला समझती थी। इसलिये दिल्ली न जाकर अपने एक राजभक्त सेनापति दुर्गादास की सहायता से वह जैसे तैसे महाराणा राजसिंह के आश्रय में चली आई। औरंगज़ेब की अप्रसन्नता का कुछ भी ख़याल न कर उन्हों ने भी अजीतसिंह और उसकी निःसहाय माता को अपने राज्य में आश्रय प्रदान किया। इसी समय औरंगज़ेब के अत्याचारों से दुःखी हो गोवर्धन के गुसाईं भी द्वारिकाधीश तथा श्रीनाथ जी की मूर्तियाँ लेकर त्राण पाने के अभिप्राय से राणा की शरण में आये। कांकड़ोली और नाथद्वारा में रहने को स्थान देकर राणा जी ने उनके संकट को भी दूर किया। महाराणा का जज़िया कुबूल न करना, बादशाह की इच्छा के विरुद्ध अजीतसिंह को सहायता देना, और देव मूर्तियों को लेकर भागते हुए गोस्वामियों को मेवाड़ में शरण देना, ये तीन ऐसे कारण उपस्थित हुए, जिन से बादशाह की क्रोध-ज्वाला धधक उठी। उसने मेवाड़ाधीश से कहलाया कि जज़िया कुबूल कर के अजीतसिंह को हमारे सुपुर्द करो, नहीं तो शाही सेना पहुँच कर मेवाड़ की ईंट ईंट अलग करदेगी। युद्ध अब अनिवार्य होगया। दो चार दिन महाराणा के उत्तर की प्रतीक्षा की गई। फिर एक महती सेना को लेकर औरंगज़ेब स्वयं मेवाड़ पर चढ़ दौड़ा।

समर पटुता और स्वदेशाभिमान की पराकाष्ठा दिखाकर जिस दिन वीरवर प्रताप ने स्वर्ग का रास्ता लिया, उसी दिन

से मेवाड़ में अन्धकार छागया था। भारत और विशेषतः मेवाड़ के लिये वह दिन बड़ा ही अशुभ था। महाराणा अमरसिंह, उनके पुत्र कर्णसिंह और उनके उत्तराधिकारी जगतसिंह ने इस अंधकार को दूर करने का उत्कट उद्योग किया, परंतु सफलता किसी को न मिली। इस घने अंधकार में मौक़ा देख कर मुग़लों ने मेवाड़ की स्वतन्त्रता लूट ली। आज साठ वर्ष के पश्चात् उस खोई हुई स्वतन्त्रता के मूल्य को पहचानने वाले वीरवर राजसिंह की तलवार फिर व्योम में चमक उठी। यह युद्ध महाराणा राजसिंह के विरुद्ध नहीं, बल्कि एक तरह से हिन्दू धर्म के विरुद्ध था। इसलिये थोड़ी बहुत सहायता सब हिन्दुओं ने दी। अरण्यवासी भील भी अपने तीर कमान लेकर हज़ारों की संख्या में महाराणा के दल में आ सम्मिलित हुए। मुग़ल सेना को बहुत बड़ी देख महाराणा ने खुले मैदान में लड़ना उचित न समझा। उन्हों ने उसी प्राचीन नीति का अनुसरण किया, जिस के बल से महाराणा प्रताप और अमरसिंह ने मुसलमानों पर कई बार विजय प्राप्त की थी। सब सरदारों की राय से महाराणा इस बार भी अपनी सेना को साथ ले पर्वत-मालाओं में चले गये, और चारों तरफ़ से नाके बन्दी कर दी।

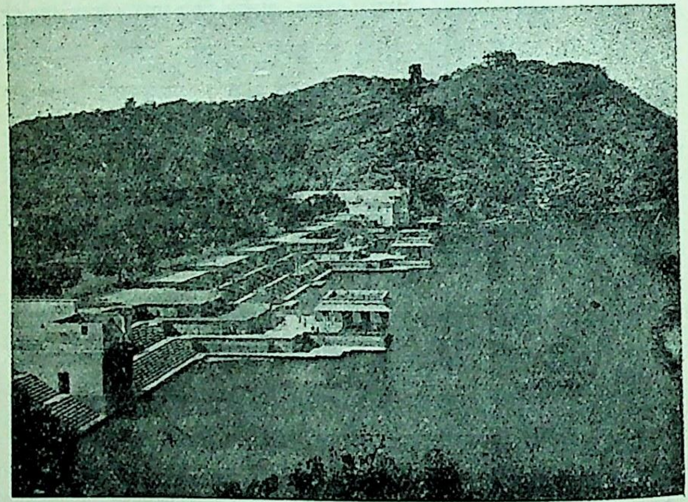
महाराणा ने अपनी सेना के तीन विभाग किये। एक विभाग को अपने बड़े पुत्र जयसिंह को सौंप कर उसे अर्वली की चोटियों पर तैनात किया, जिस से शत्रु जिधर से भी आवे, उस पर धावा करने में सुभीता रहे। दूसरे विभाग पर कुँवर भीमसिंह को रखकर तीसरे पर स्वयं राणा जी रहे। पहले तो औरंगज़ेब की इच्छा राणा का पहाड़ों में भी पीछा करने की हुई, फिर

न मालूम क्या सोच कर उसने अपना वह विचार बदल दिया, और खुद वहीं रह कर शाहज़ादे अकबर को उदयपुर भेजा। शहर ख़ाली पड़ा था। राणा की आज्ञा से नगरवासी शहर छोड़ २ कर पहाड़ों में स्थित आसपास के गाँवों में चले गये थे। सेना ने वहीं पड़ाव डाला। सैनिक निःशंक होकर भाँति २ के रागरंग और आमोद-प्रमोद करने लगे। इतने में यकायक जयसिंह ने हमला कर दिया। इस से मुग़ल-सैन्य में खलबली मचगई। वह भाग कर नाई की तरफ़ चल पड़ी। वहाँ भीलों ने इन्हें आगे बढ़ने से रोका। इस प्रकार शाही सेना आगे और पीछे से बन्द होगई। यवन सिपाही भूख और प्यास के मारे त्राहि २ करने लगे। शाहज़ादे अकबर ने विवश होकर संधि की प्रार्थना की। कुँवर जयसिंह को दया आगई। इस से उसे अभय दान देकर वहाँ से निकल भागने का मार्ग दिया, जिस से वह वहां से निकल भागा, और ज्यों त्यों करके चित्तौड़ के पास पहुँच गया।

इसी समय मारवाड़ के वीर दुर्गादास भी अपने कुछ राठौड़ वीरों को साथ ले राणा से आ मिले। दोनों ने मिल कर बादशाह पर हमला किया। बादशाह के तोपचियों ने ख़ूब आग बरसाई, परंतु उनकी कुछ भी न चली। राणा बादशाह को खदेड़ते हुए मेवाड़ से कई कोस दूर निकल गये। इधर राणा की विजय हुई। उधर कुँवर भीमसिंह ने ईडर पर छापा मारा, और उसे हस्तगत कर बड़नगर को जा लूटा, जिस से गुजरात में खलबली मच गई। वहाँ की प्रजा ने आकर राणा की शरण ली। प्रजा की दीन हीन दशा देख कर राणा को दया आगई, और उन्हों ने अपने कुँवर को वहाँ से बुला लिया। इस प्रकार चारों

ओर से महाराणा की विजय हुई। औरंगज़ेब की सब आशाओं पर पानी पड़ गया। इस समय उसका उद्देश्य राजसिंह को हरा कर हिंदू जाति को नीचा दिखाने का था, परन्तु वह असफल रहा। चारों तरफ़ से महाराणा की विजय होती देख उसने सुलह की बात चलाई, परन्तु अभाग्यवश उन का उसी वर्ष देहान्त हो गया। यह घटना सन् १६८० ई० की है।

महाराणा राजसिंह जी ने छोटे बड़े कई लोकोपयोगी कार्य किये। इन में उनका बनाया हुआ राजसमुद्र प्रसिद्ध है। यह



राज समुद्र

झील चार मील लम्बी और पौने दो मील चौड़ी है। इस में गोमती नदी का जल गिरता है और जल के बाहर निकलने के लिये

तीन मार्ग रक्खे गये हैं। पास ही में काँकरोली नामक गाँव में द्वारिकाधीश का मन्दिर है। सन् १६६२ ई० में इस झील के बनने का काम प्रारम्भ हुआ, और क़रीब क़रीब १६ वर्ष उसके बनने में लगे थे। इसका बाँध अत्यन्त ही दृढ़ और सुन्दर बना हुआ है। राजनगर के पास उस बाँध का एक भाग सफ़ेद संगमरमर का बना हुआ है। इसी स्थान पर संगमरमर के तीन सुन्दर मण्डप भी बने हुए हैं, जिन में कई एक देवी, देवता, हाथी, घोड़े, रथ, कबूतर आदि की मूर्तियाँ बड़े ही कला-कौशल के साथ खोदी गई हैं। बाँध के इस रमणीय भाग को नौचौकी के नाम से पुकारते हैं, और दूर से देखने पर यह स्थान अत्यन्त ही मनोहर और शानदार मालूम होता है। कुल मिलाकर इस झील पर १०५०७४८४ रुपये ख़र्च हुए थे।

महाराणा राजसिंह का क़द छोटा, आँखें बड़ी और रंग गेंहुआं था। वे देखने में बड़े ही सुन्दर और पराक्रमी मालूम देते थे। इनका सुगठित शरीर और मनमोहक मुखश्री का देखने वालों पर भारी प्रभाव पड़ता था। रहन-सहन, चाल-ढाल और प्रत्येक अंग-प्रत्यंग से महाराणा चक्रवर्ती राजा दीख पड़ते थे। राणा जी जितने देखने में बाहर से सुन्दर थे, उतने ही हृदय के भी पवित्र और निर्मल थे। वीर, साहसी, धर्मिष्ठ, प्रजा-हितैषी और स्वदेशाभिमानी होने के साथ २ महाराणा कला और काव्य के भी अच्छे समझने वाले थे। वे विद्वानों का बड़ा सम्मान करते थे, और स्वयं अच्छी कविता भी करलेते थे। उनका बनाया हुआ एक छप्पय इस प्रकार है—

कहाँ राम कहां लखण, नाम रहिया रामायण,
कहां कृष्ण बलदेव, प्रगट भागौत पुरायण।

वाल्मीक, शुक, व्यास, कथा कविता न करंता,
कुण समय सेवता, ध्यान मन कवण धरंता ।
जग अमर नाम चाहो जिके, सुणो सजीवण आखरां,
राजसी कहे जग राणरो, पूजो पांव कवी सरां ।।१।।

छब्बीसवां अध्याय

महाराणा भीमसिंह

(अंग्रेज़ी सरकार से संधि)

महाराणा राजसिंह की मृत्यु के अनंतर जब उनके पुत्र जयसिंह सिंहासनारूढ़ हुए, तब उन्हों ने भी अपने पिता की नीति का अनुसरण किया, और औरङ्गज़ेब से बराबर लड़ते रहे। परंतु इसी बीच में औरंगज़ेब का पुत्र अकबर उस से विद्रोह कर बैठा, और दक्षिण में मरहठों का ज़ोर बहुत बढ़ गया, जिस से लाचार होकर उसने (औरंगज़ेब) जयसिंह से संधि कर ली। इसके बाद मुग़लों और मेवाड़ के बीच संग्राम होने की संभावना न रही। जो थोड़ा बहुत खटका था, वह भी सन् १७०७ ई० में औरंगज़ेब की मृत्यु होजाने से जाता रहा।

कभी २ देखा जाता है कि जिस ओर से हम अनिष्ट होने की आशा करते हैं, अनिष्ट उस ओर से न आकर दूसरी ही ओर से आ उपस्थित होता है। यही बात मेवाड़ के साथ भी हुई। मेवाड़ की प्रजा और महाराणा समझे हुए थे कि मुग़लों के साथ संधि होजाने से तथा उनकी दिन दिन बिगड़ती हुई अवस्था के कारण देश का संकट सदैव के लिए टल गया और अब वे सुख की नींद ले सकेंगे, परंतु उनका ऐसा सोचना निर्मूल सिद्ध हुआ। मुग़लों और मुग़ल वंश के ह्रास होने से उन्हें लाभ किंचित् मात्र भी न हुआ; क्योंकि मरहठों ने, जिनके कारण मुग़ल साम्राज्य की नींव जर्जरित होगई थी, अब लूट-मार

मचाकर मेवाड़ को ध्वस्त करना प्रारम्भ कर दिया था। साथ २ सिंधिया, होल्कर और पिंडारियों ने भी नाक में दम कर रक्खा था। मरहठों तथा पिंडारियों के दल दिन दहाड़े प्रजा को लूटते और गांव के गांव जलाकर चले जाते थे। जिस गांव अथवा नगर के समीप वे एक दिन भी टिक जाते, वहाँ त्राहि त्राहि मच जाती और दूसरे ही दिन मरुस्थल का सा सन्नाटा हो जाता था। अपनी धन-सम्पत्ति और घर बार की रक्षा करना तो दूर रहा, प्रजा को अपने प्राणों की पड़ी थी। यात्री मार्ग में, किसान खेत पर और व्यापारी दूकान पर ही अपने प्राण गंवा बैठते थे। कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता था कि एक घड़ी के बाद उस पर क्या बीतेगी।

इन लुटेरों की लूट-खसोट और छापा छापी का फल यह हुआ कि मेवाड़ उजाड़ सा होगया। उदयपुर नगर, जहां पहले ५०००० घरों की बस्ती थी, वहां अब केवल ३००० घर रह गये। प्रजा कंगाल होगई। महाराणा के ख़ज़ाने ख़ाली होगये और नगर-वासी इधर उधर भाग कर दूसरे राजाओं के आधीन चले गये। महाराणा जयसिंह के बाद जितने राजा मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे, उन सब ने अपनी तरफ़ से भरसक प्रयत्न इन लुटेरों को



लार्ड हेस्टिंग्ज़

रोकने का किया, परंतु लाभ अधिक न हुआ। महाराणा भीमसिंह के समय तक तो इनका ज़ुल्म इतना बढ़ गया कि विवश होकर उन्हें अंग्रेज़ी सरकार की सहायता लेनी पड़ी। उस समय लार्ड हेस्टिंग्ज़ भारत के गवर्नर जनरल थे, और वे भी उपरोक्त उपद्रवियों के दमन की प्राण प्रण से चेष्टा कर रहे थे। सन् १८१८ की तेरहवीं जनवरी को महाराणा भीमसिंह के प्रतिनिधि ठाकुर अजीतसिंह और अंग्रेज़ी सरकार की ओर से आये हुए मि० चार्ल्स थियोफ़िलस मेटकाफ़ के बीच दिल्ली में संधि की दश शर्तें तय हुईं, जिन में निम्नांकित पाँच शर्तें मुख्य थीं :—

(१) अंग्रेज़ी सरकार और राणा जी की पारस्परिक मित्रता, सख्यता और एकता पीढ़ी दर पीढ़ी तक बनी रहेगी, और एक के मित्र तथा शत्रु दूसरे के भी मित्र तथा शत्रु समझे जायँगे।

(२) अंग्रेज़ी सरकार, उदयपुर राज्य और मुल्क की रक्षा का भार अपने ऊपर लेने का इक़रार करती है।

(३) उदयपुर के यथार्थ प्रादेशिक विभाग से जो आमदनी होगी, उसका एक चतुर्थांश $\frac{1}{4}$ पाँच वर्ष तक राणा जी अंग्रेज़ी सरकार को ख़िराज के रूप में देंगे। तदुपरांत तीन अष्टमांश $\frac{3}{8}$ राणा जी सदैव ही देते रहेंगे। ख़िराज के सम्बन्ध में राणा जी किसी और राज्य से कोई सम्बन्ध न रक्खेंगे। यदि कोई ख़िराज के लिये किसी प्रकार

का दावा करे तो अंग्रेज़ी सरकार उसका उत्तर देने का इक़रार करती है ।

(४) आवश्यकता पड़ने पर रियासत उदयपुर को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अंग्रेज़ी सरकार को सेना देनी होगी ।

(५) उदयपुर के राज्य में महाराणा साहिब की आज्ञा और अधिकार पूर्ण रीति से चलेंगे, और उनके राज्य में अंग्रेज़ों की प्रभुता का प्रचार न होगा ।

संधि होजाने पर अंग्रेज़ी सरकार को एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई, जो मेवाड़ में—मेवाड़ ही में क्यों? समस्त राजस्थान में शांति स्थापित कर सके, और कई वर्षों से युद्ध रूपी लहरों के थपेड़े खाती हुई इस मेवाड़ भूमि को पार लगा कर उसका पुनरुद्धार करे। कर्नल टॉड इस काम के योग्य समझे गये, और वे ही पश्चिमी राजपूताने के प्रथम पोलिटिकल एजेंट नियुक्त हुए। टॉड महोदय बड़े परिश्रमी, कार्य-कुशल और नीति-निपुण व्यक्ति थे । अपने उत्तरदायित्व को उन्हों ने बड़ी ही चतुराई से सँभाला। कर्नल टॉड जैसे व्यक्ति की सहायता से लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने राजस्थान से ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष के दूसरे देशों से भी उपद्रवियों का नामोनिशान मिटा दिया। सिंधिया की शक्ति टूट गई। होल्कर बुरी तरह से परास्त हुआ। मरहठों ने भाग कर अपने प्राणों की रक्षा की, और पिंडारियों के दल इधर उधर बिखर गये। मेवाड़ के शुभ दिन आये देख लोग फिर आ आकर बसने लगे और आठ महीने के पूर्व ही मेवाड़ की ऊजड़ भूमि जन-रव से भर गई। तीन सौ गाँव और क़स्बे फिर से आबाद होगये और भीलवाड़े तथा उदयपुर में धड़ाके

से व्यापार होने लगा। जिन स्थानों पर पहले सियार और कुत्ते भौंकते थे, वहाँ अब हरी भरी खेती लहलहाने लगी।

कर्नल टॉड चार वर्ष तक अपने पद पर रहे। इस अर्से में चारों ओर घूम घूम कर शान्ति तो स्थापित उन्हों ने की ही, परंतु सब से बड़ा कार्य जो उन्हों ने किया वह यह था कि इतिहास की सामग्री एकत्र कर राजपूत जाति को उन्हों ने अमर कर दिया। टॉड महोदय स्वयं एक वीर और साहसी पुरुष थे। इसलिये वीरता और वीर पुरुषों के प्रति उन के हृदय में स्थान और श्रद्धा थी। राजस्थान में आने पर, उन्हें जब मालूम हुआ कि वे उस जाति की रक्षा के लिये नियुक्त हुए हैं, जो कई शताब्दियों से दूसरों की रक्षा करती आई है, तो उन्हें



अमर इतिहासज्ञ कर्नल टॉड

दुःख हुआ और हर्ष भी। अन्त में उन्हों ने राजपूतों की कीर्ति को अक्षय करने का प्रण कर लिया और अस्त्र शस्त्रों को अलग रख कर अब क़लम से काम लेने लगे। जो कुछ भी उन्हों ने लिखा वह संसार की स्थायी सम्पत्ति और भारत के गर्व की वस्तु है। राजपूत जाति तो कम से कम उनकी सुवर्ण लेखनी को भूल ही

नहीं सकती। इतिहास तो संसार में और भी कई हैं, परन्तु टॉड कृत Annals and Antiquities of Rajasthan अपने देश का अनूठा ही ग्रंथ है। मुसलमान शासकों की क्रूरता, क्षत्राणियों के बलिदान, राजपूतों का धर्म-युद्ध, उनके उत्कर्ष, उनकी डांवांडोल स्थिति और उनके पतनादि का हृदय स्पर्शी सच्चा और सजीव वर्णन यदि कहीं मिलेगा तो टॉड लिखित राजस्थान में। जो लोग टॉड राजस्थान को पक्षपात और अतिशयोक्ति से भरा हुआ कहते हैं, वे भूल करते हैं। चारण भाटों की ख्यातों, दन्तकथाओं और पाश्चात्य लेखन शैली के कारण कहीं कहीं टॉड कृत इतिहास ने उपन्यास का रूप धारण अवश्य कर लिया है, परंतु ऐसा बहुत कम हुआ है, और जहां कहीं हुआ भी है वह उस समय की परिस्थिति के कारण। फिर सोचने की बात है कि राजपूतों की झूंठी प्रशंसा करने में उनका लाभ ही क्या था?

अस्तु, अपने सहजातियों और सहयोगियों की कूट नीति और आक्षेपों के कारण टॉड साहिब को समय के पहिले ही नौकरी से इस्तीफ़ा देना पड़ा, और अपने सहकारी कप्तान बॉग के ऊपर कार्य-भार छोड़कर वे विलायत चले गये। तत्पश्चात् कप्तान स्वीयर्स, कप्तान कॉब और कप्तान सदरलैंड महाराणा भीमसिंह को सहायता देने के लिये नियुक्त हुए, परन्तु मेवाड़ की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक दशा टॉड के समय में ही बहुत कुछ सुधर चुकी थी। इसलिये महाराणा भीमसिंह के राजत्व काल में फिर कोई घटना विशेष न हुई।

सन् १८२८ ई० में महाराणा भीमसिंह के पौत्र, जवानसिंह के पुत्र का देहान्त होगया, जिस से उनके स्वास्थ्य को भारी

धक्का पहुँचा और बीस दिन के बाद उनकी दुःखी आत्मा भी नश्वर देह को छोड़ कर अनंत ज्योति में मिल गई।

महाराणा भीमसिंह बड़े ही दयालु और उच्च हृदय के राजा थे। शारीरिक बल इन में इतना था कि मज़बूत से मज़बूत ढाल को भी हाथ से चीर कर फेंक देते थे। वे हँस मुख, मृदु भाषी और क्षमाशील भी पूरे थे। इन्हें विद्या से अनुराग था, और विद्वानों का बड़ा सम्मान करते थे। महाराणा एक भावुक कवि और इतिहास के प्रेमी थे। इनकी दान शीलता के सम्बन्ध में कहा हुआ यह दोहा आज भी मेवाड़ में प्रसिद्ध है :—

राणो भीम न रक्खियो, दत्त बिन दिहाड़ोह।
हय गयंद देतो हतां, मुओ न मेवाड़ोह॥

अर्थात्, मेवाड़ का राणा भीम, जो बिना दान दिये एक दिन भी नहीं रहता था, और जो हाथी घोड़े दिया करता था, मरा नहीं है; अर्थात्, वह अब भी यश-स्वरूप में प्रकाशमान है।

सत्ताईसवां अध्याय

महाराणा फ़तहसिंह

भारत की राजधानी दिल्ली की तरह मेवाड़ में भी शान्ति बहुत कम रही है। यहाँ भी समय समय पर मारकाट, लूट-मार, नर संहार और रक्तपात होता ही रहा है। सदैव संग्राम में संलग्न रहने के कारण मेवाड़ के शासकों को बहुत कम समय ऐसा मिलता था, जिसको वे लोकोपयोगी कार्यों में लगाते। पहले तो कभी युद्ध से ही छुटकारा नहीं मिलता था। यदि किसी महाराणा को दो चार वर्ष के लिये मिला भी, तो चट से आर्थिक प्रश्न आ उपस्थित होता। कभी मुसलमान आ टूटते। कभी मरहठे देश को उजाड़ जाते। इन से बचे तो कभी राजपूत आपस ही में लड़ मरते। परन्तु देश को कभी शान्ति नहीं मिलती थी। इसी से दुःखी होकर महाराणा भीमसिंह जी ने ब्रिटिश सरकार की सहायता ली। इस से देश में थोड़ी बहुत शान्ति और स्थिरता आई, और उनके बाद के राजाओं का रास्ता बहुत कुछ साफ़ होगया, जिस से शासन सुधार की ओर भी उनका ध्यान गया। परन्तु मेवाड़ के घटना-पूर्ण इतिहास का अन्त महाराणा फ़तहसिंह जी के राजत्यकाल ही से होता है। मेवाड़ के इतिहास के युद्ध सम्बन्धी अध्याय की इति श्री यहीं से होती है। यहीं से गुहिलोत कुल के रंगस्थल का दूसरा अंक शुरु होता है, जिस में वीर रस का अभाव और शान्त रस की अधिकता है।

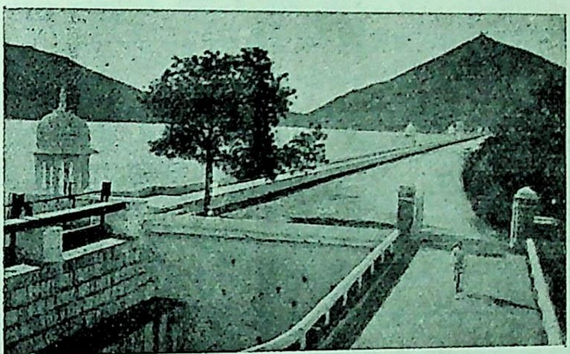
महाराणा सज्जनसिंह जी के निःसन्तान मरजाने पर मेवाड़ के तत्कालीन रेज़िडेण्ट कर्नल वाल्टर और सरदारों ने विचार-परामर्श कर शिवरती से लाकर महाराणा फ़तहसिंह जी को मेवाड़ के सिंहासन पर बिठलाया। उस समय महाराणा साहिब को अवस्था ३६ वर्ष की थी। गद्दी पर बैठने के बाद महाराणा साहिब को राज्य लिप्सा उतनी प्रबल न रही जितनी कि पहले थी। शिवरती की छोटी सी जागीर से आकर मेवाड़ राज्य के अधीश्वर होने की प्रसन्नता महाराणा को थी, परन्तु इस प्रसन्नता में थोड़ा बहुत आभास असंतोष का भी था। सिंहासन पर अभिषिक्त होने के दो चार वर्ष बाद आप ने अपने एक विश्वास पात्र राज कर्मचारी से कहा था कि "मैं तो अपने छोटे से ठिकाने शिवरती में ही सुखी था"। इस से यही मालूम होता है कि पहले पहल राज्य भार संभालने में आप को कई अड़चनों और आपत्तियों का सामना करना पड़ा था, जो स्वाभाविक ही है। जन्म से कोई सीख कर नहीं आता है। धीरे धीरे राज कार्य में महाराणा साहिब की पहुँच होने लगी, और कुछ वर्ष बाद तो आप ने अपनी प्रतिभा, दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता का इस खूबी से परिचय दिया कि उसे देखकर बड़े बड़े नीति विशारद दाँतों तले उँगली दबाते थे। फिर तो जटिल राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को आप देखते ही समझ जाते थे। अपने दिये हुए किसी मुक़द्दमे के फ़ैसले के समर्थन में जिन जिन उक्तियों को वे सामने लाते उन पर फिर किसी को बोलने का साहस न होता था। ये उक्तियाँ इतनी सारगर्भित, अकाट्य, न्याय और नीति पूर्ण होती थीं कि दूसरों के लिये फिर बोलने की गुञ्जाइश ही नहीं

रह जाती थी। ऐसे मामलों में आपकी अनुपम स्मरण शक्ति भी ग़ज़ब का काम करती थी।

महाराणा साहिब को अपनी प्रजा के सुख व शान्ति का पूर्ण ध्यान रहता था। उन्हें इस बात की सदैव चिन्ता लगी रहती थी कि मेरी प्रजा दुःखी न हो, उस पर कोई अत्याचार न कर बैठे। स्वयं अधिक शिक्षित न होने पर भी उन्हें विद्या से प्रेम और शिक्षा प्रचार के कार्यों से सहानुभूति थी। मेवाड़ में शिक्षा प्रचार के लिये आपने स्कूलों की संख्या बढ़ाई, जिस से आपके जीवन ही में यहाँ कुल मिला कर ५० के लगभग सरकारी स्कूल हो गये। इतना ही नहीं, मेवाड़ के बाहर भी शिक्षा सम्बन्धी कई संस्थाओं को आप समय २ पर सहायता देते रहते थे। हिन्दू विश्व-विद्यालय और मेयो कालेज की उन्नति में आपका पूरा २ हाथ था। इसके अतिरिक्त मेवाड़ के विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ मिलतीं और पुरस्कार में पुस्तकें भी दी जाती थीं। महाराणा साहिब स्वयं वर्ष में एक बार स्कूल में पधार कर पुरस्कार वितरण किया करते थे।

कृषि की उन्नति के लिये आपने आबपाशी का महकमा स्थापित किया, और कई तालाब नये बनवाये, जिन से सिंचाई का काम सुगमता से होने लगा। इन में फ़तह सागर, जिसका नाम महाराणा के नाम पर ही रक्खा गया है, सब से प्रसिद्ध और सुन्दर है। यह झील डेढ़ मील लम्बी है और इसकी सब से अधिक चौड़ाई एक मील है। फ़तह सागर को भरने के लिये देवाली ग्राम से लगभग चार मील दूर की एक नदी में बाँध बाँधकर नहर द्वारा उसका जल लाया गया है। इसका बाँध २८०० फुट लंबा है। संध्या समय यहाँ का दृश्य बड़ा ही

सुन्दर और नयनाभिराम होता है। आस पास हरियाली और पर्वत श्रेणियों के कारण वर्षा ऋतु में यहाँ की छटा काश्मीर की



फ़तह सागर

सी हो जाती है; और इसकी छटा से मुग्ध होकर ही विदेशीय भ्रमण कारियों ने उदयपुर को दूसरा काश्मीर तथा भारत का वेनिस कहा है।

लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर महाराणा साहिब ने उदयपुर शहर और ज़िलों में अस्पताल खोले, जहाँ सर्व साधारण को, बिना किसी जाति पाँत के भेद भाव के, दवाइयाँ आज तक मुफ़्त दी जाती हैं। यात्रियों की सुविधा के लिये आपने उदयपुर से चित्तौड़ तक रेलवे लाइन बनवाई, और रियासत में इधर उधर कई पक्की सड़कें बनवाकर स्थान स्थान पर पुलिस की चौकियाँ और थाने बिठला दिये, जिस से मेवाड़ के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना सुगम और भय रहित हो-गया और मुसाफ़िर बेखटके इधर उधर आने जाने लगे।

आप को शिल्प के कामों से बड़ा प्रेम था, और शिल्प कला की बारीकियों को समझते भी ख़ूब ही थे। विक्टोरिया हॉल, दरबार हॉल आदि सुन्दर २ स्थान आप ही के बनवाये हुए हैं। विक्टोरिया हॉल को महाराणा ने विक्टोरिया की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में बनवाया था, और इसका उद्घाटन लार्ड लेन्स-डौन ने किया था। जयपुर के अजायब घर को छोड़ कर ऐसी सुन्दर और भव्य इमारत राजपूताने में कहीं भी नहीं है। इस में प्राचीन शिला-लेखों और इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली हस्त-लिखित तथा मुद्रित पुस्तकों का अच्छा संग्रह है, जिस से यह स्थान सुन्दर होने के अतिरिक्त उपयोगी भी कम नहीं है। कहते हैं, प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों, मूर्तियों और शिला लेखों का ऐसा लाभ प्रद संग्रह राजपूताने में दूसरे किसी स्थान पर नहीं है। इसी में वाचनालय और अजायबघर भी है, जहाँ छोटे-बड़े अमीर-ग़रीब सब को आने जाने की इजाज़त है।

महाराणा साहिब को दीन-दुःखी और साधु सन्तों का विशेष ध्यान था। ग़रीबों और ब्राह्मणों के लिये राज्य में आपने कई स्थान ऐसे नियत किये थे, जहाँ से प्रति वर्ष हज़ारों रुपयों का दान हुआ करता था। महाराणा साहिब बिना पात्र-कुपात्र देखे ही, केवल यही समझ कर कि ग़रीबों का भरण-पोषण करना मेरा धर्म है, उन्हें भोजन, वस्त्र आदि दिया करते थे। जब कभी यात्रा के लिये हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थ स्थानों में जाने का काम पड़ता तो आप दोनों हाथों से धन देकर याचकों तथा साधुओं की इच्छा पूरी करते थे।

महाराणा सर फ़तहसिंह जी बहादुर, जी. सी. एस. आई; जी. सी. वी. ओ. का जन्म सन् १८४९ ई० की दशवीं दिसम्बर

को हुआ था। उस समय मेवाड़ में शिक्षा का प्रचार अधिक न था, और न उस समय के राजपूतों के विचार शिक्षा के प्रति इतने ऊँचे ही थे। इसलिये अक्षर ज्ञान का अच्छा प्रबन्ध आपके लिये उस समय न हो सका। उर्दू, अँग्रेज़ी और संस्कृत का ज्ञान बाद में होगया था, परन्तु वह था बहुत ही कम। आपको तो प्रारम्भ ही से क्षत्रियोचित शिक्षा-अस्त्र-शस्त्र चलाना, निशाना लगाना, सवारी करना, शिकार खेलना आदि—दी गई थी। इन सब बातों में आप परम प्रवीण थे। शिकार का महाराणा साहिब को विशेष शौक़ था। अवकाश मिलते ही वे मृगया के लिये निकल जाते थे, परन्तु हिंसक जन्तुओं के सिवाय दूसरों को न मारते थे। सिंह का शिकार करने के लिये ही आप विशेष आतुर देखे जाते थे। इस व्यसन से वे दोहरा काम लेते थे; एक शारीरिक व्यायाम और दूसरे प्रजा की भली बुरी दशा का ज्ञान।

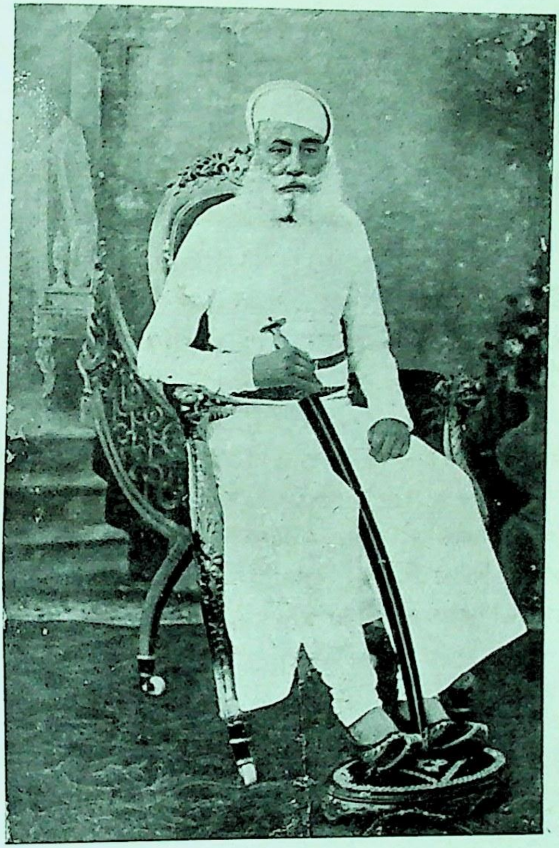
महाराणा का क़द न बहुत ऊँचा था, न छोटा। साधारण डीलडौल से कुछ ऊंचाई लिये हुए थे। रंग गेहुँआं, आँखें बड़ी, शरीर गठा हुआ, ललाट उन्नत, माथा चौड़ा, छाती खुली हुई, तथा भुजा और हाथ लम्बे थे। एक बार घोड़े से गिर पड़ने के कारण उनकी दाहिनी आँख के ऊपर एक घाव होगया था। घाव के पुरजाने पर इस स्थान पर एक हल्का सा काला दाग़ हो गया, जो आपके श्वेत वस्त्र, श्वेत पगड़ी और श्वेत दाढ़ी के बीच में बड़ी शोभा देता था। ध्वनि गम्भीर और वार्तालाप मधुर तथा उच्चता-सूचक थी। राज्योचित शिष्टाचार तो आप में कूट कूट कर भरे थे। आपके बैठने-उठने और चलने-फिरने में कुछ ऐसी विशेषता थी, जो आप ही को फबती थी, आप ही

की चीज़ थी। चाल-ढाल अन्य लोगों से भिन्न थी और चेहरा दिव्य ज्योति से चमकता था। उनकी प्रकृति सौम्य थी और दूसरों के हृदय में प्रेम तथा श्रद्धा उत्पन्न कर सकती थी। जो मनुष्य एक बार भी उन्हें देख लेता, फिर जन्म भर नहीं भूलता था। चेहरे में गम्भीरता के साथ कुछ ऐसी दिव्य ज्योति थी, जिस से मिलने वालों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था, और उनके सामने अधिक कुछ कहने सुनने का साहस नहीं होता था। वाणी का संयम भी आप में पूरा पूरा देखा जाता था।

फ़तहसिंह जी के कई गुणों में चरित्र की दृढ़ता सर्वोपरि थी। उनका चरित्र आदर्श, निष्कलंक और अनुकरणीय था। इसी कारण मेवाड़ के सब छोटे बड़ उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे मदिरा, मांस, अफ़ीम, तम्बाकू आदि किसी भी नशीली वस्तु के व्यसन में आसक्त न रहे। धर्म और ईश्वर पर तो आपका अटूट विश्वास था। प्रातःकाल का अधिक समय ईश्वरोपासना, संध्या और पूजा-पाठ में ही ख़र्च होता था। रामयण से आपको विशेष प्रेम था, और हिन्दी कवियों में कबीर को बहुत अच्छा समझते थे। कबीर की कुछ साखियाँ उन्हें ज़बानी याद थीं। दुनियाँ की नश्वरता पर कहा हुआ कबीर का निम्नांकित दोहा प्रायः दुहराया करते थे :—

आठों नोबत बाजती, होत छतीसों राग॥
वे मन्दिर सूने पड़े, बैसण लागे काग॥१॥

प्रकृति के नियमों का आप पूरी तौर से पालन करते थे और अस्वस्थ होने पर भी प्राकृतिक नियमों को ही काम में लाते थे। औषध को कभी छूते भी न थे। यदि कभी बुख़ार आगया तो उपवास कर उस से पीछा छुटाते थे, दवा से नहीं। इसी



श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा जी श्री सर फ़तहसिंह जी बहादुर,

जी. सी. एस. आई; जी. सी. वी. ओ.

लिये वृद्धावस्था में भी आप में सिंह का सा बल और स्फूर्ति विद्यमान थी।

अपने प्राचीन गौरव का महाराणा को बड़ा अभिमान था, और उसकी रक्षा के लिये वे भारी से भारी विपत्तियों का सामना करने को उद्यत रहते थे। अपनी ऊंची वंश परम्परा का आप बड़े ही ऊँचे ढंग से निर्वाह करते थे। उन्हें इस बात का बड़ा ध्यान रहता था कि बाप्पा, साँगा, हमीर और प्रताप जैसे महावीरों के उज्ज्वल और गौरवपूर्ण वंश में मेरे कारण किसी तरह का कलंक न लग जाय। आपको रणक्षेत्र में उतर कर तलवार चलाने का अवसर तो न मिला, परन्तु एक रण कुशल पुरुष में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब आप में विद्यमान थे। आत्मगौरव, स्वदेशाभिमान, तथा स्वातन्त्र्य प्रेम की तो आप मूर्ति ही थे। समय समय पर आये हुये भारत के वाइसरायों ने आपके उक्त गुणों की कई तरह से सराहना और प्रशंसा की है। आपके व्यक्तित्व, आदर्श चरित्र और गंभीर मुख श्री की प्रशंसा करते २ तो वे एक तरह से थक गये हैं।

महाराणा साहिब अपने राज्य के छोटे बड़े कार्यों की स्वयं देख भाल करते और अपने कर्मचारियों पर पूरी निगरानी रखते थे। मानव प्रकृति को समझने का आपको आश्चर्यजनक अभ्यास और अनुभव था। देखते ही पहिचान जाते थे कि यह मनुष्य इस प्रकार का है, और अमुक अभिप्राय से वह यह बात कह रहा है। नवीनता के इस महायुग में आप प्राचीनता के प्रेमी थे। आपको सादगी बहुत प्रिय थी, जो अन्त समय

तक बनी रही। समुन्नत नरेश की अवस्था में भी पुराने आचार-विचारों की आदर पूर्वक रक्षा करना आप ही का काम था। महाराणा न केवल अपनी प्रजा की दृष्टि में ही आदरणीय थे, बल्कि देशी राज्यों व पाश्चात्य देशों में भी गौरव की दृष्टि से देखे जाते थे। महाराणा वीर थे, धीर थे, गम्भीर थे और एक कुशल राजनीतिज्ञ थे। आपके स्वर्गवास के समय अंग्रेज़ी के एक प्रमुख पत्र संपादक ने लिखा था :—

"मेवाड़ का राज्य ही कितना है? स्वर्गीय महाराणा में वह प्रतिभा, पटुता, कुशलता और राजनीतिज्ञता मौजूद थी, जिस से वे समस्त भारत का राज्य भी यदि उन्हें सौंपा जाता तो संभाल सकते थे और अच्छी तरह संभाल सकते थे।

———*———

अट्ठाइसवां अध्याय

महाराज श्री चतुरसिंह जी

यों तो सभी लोग इस अनित्य, क्षणभंगुर और नाशवान जगत में जन्म लेते हैं, जीते हैं और अन्त में मर जाते हैं। पर उन्हीं का जीना और मरना सार्थक मालूम देता है, जो या तो देश, जाति और धर्म के लिये मर मिटते हैं, या अपने पीछे संसार में ऐसी वस्तु छोड़ जाते हैं, जो मानव कर्त्तव्य को बतलाती और उसे ठीक तरह से संभालने तथा समझने में सहायता देती है। वास्तव में ऐसे ही मनुष्य, मनुष्य हैं और वे ही पीयूष पान कर इस संसार में आते हैं। क्योंकि उनका अन्त होजाने पर भी उनकी अक्षय कीर्ति, उनकी शहादत जाति कभी नहीं भुलाती। देश, काल और धर्म के अनुसार इन महान् विभूतियों की कार्य शैली में अन्तर दिखाई पड़ता है, परंतु ध्येय सभी का एक होता है। कुछ लोग अपना, कुछ अपनी संतान का और कुछ अपने परिवार का रक्त देकर जातीय वृक्ष की जड़ सींच जाते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो अपने आदर्श चरित्र के उपहार से अथवा सत्साहित्य की उत्पत्ति कर देश की नींव को सुदृढ़ और स्थायी बना देते हैं, और इस तरह स्वयं मरकर भी वे जाति को अमर कर देते हैं।

ऐसे ही महापुरुषों में महाराज श्री चतुरसिंह जी का नाम भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है। महाराज साहिब का जन्म

सन् १८८० ई० की ११ वीं फ़रवरी (वि० सं० १९३३ माघ कृष्ण १४) को हुआ था। आप करजाली महाराज सूरतसिंह जी के चतुर्थ पुत्र थे। प्रत्येक मेवाड़ वासी को मालूम है कि सूरतसिंह जी अत्यन्त ही निस्पृह, धर्मिष्ठ और उदासीन वृत्तियों के पुरुष थे। संसार की विषय वासनाओं से उन्हें जन्म ही से अरुचि थी। कहने को वे संसार में देह धारण किये हुये थे, परंतु उनका ध्यान अधिकतर भगवान के भजन में ही लगा रहता था; वे दूसरे ही संसार में विचरण किया करते थे। महाराणा सज्जनसिंह जी के बाद जब मेवाड़ की गद्दी पर बैठने का प्रश्न उठा, उस समय दूसरी व्यक्तियों के साथ आप का भी नाम था और वास्तव में गद्दी के अधिकारी भी आप ही थे। परंतु धर्म और ईश्वर भक्ति की तुलना में राज्य सम्मान न टिक सका; इसी लिये राज्य भार अपने कनिष्ठ भ्राता फ़तहसिंह जी को दिलवा सूरतसिंह जी ने अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया।

पिता की धार्मिक रुचि और ईश्वर भक्ति का रंग बालक चतुर पर ऐसा गहरा चढ़ा कि फिर न छूटा; उसकी छाप देहावसान के समय तक महाराज साहिब के चरित्र पर रही। उन्तीस वर्ष की आयु में आपका विवाह हुआ। परंतु, इस से आपके स्वाध्याय में किसी प्रकार की रुकावट और शिथिलता न पड़ी। सांख्य, वेदान्त, न्याय और ईश्वर- भक्ति सम्बन्धी साहित्य का मनन और मथन आप फिर भी करते ही रहे। कविता करने का थोड़ा बहुत अभ्यास भी आपको होगया था। कठिन विषय को पढ़ते २ जब कभी आप ऊब जाते तब कविता कर अपना मन बहला लेते थे। उस समय काव्य की विभिन्न विशे-

ताओं का समावेश आपकी रचनाओं में नहीं होता था। कविता अपने वास्तविक और स्वाभाविक रूप में ही आपके हृदय से निकलती थी। फिर भी काव्य-कौशल की झलक उस में रहती ही थी। आपकी जन्म-सिद्ध काव्य-प्रतिभा का परिचय उस समय भी थोड़ा बहुत मिल ही जाता था। आयु के साथ २ मानसिक और कवित्व शक्ति का भी विकाश हुआ, और महाराज साहिब सुधार-संबन्धी, चरित्र संबन्धी अच्छी कविताएँ लिखने लगे।

सन् १९०७ में महाराज साहिब की धर्म पत्नी का देहान्त होगया। फलतः उस समय से आपकी आन्तरिक वृत्तियों का झुकाव ईश्वर की ओर अधिकाधिक हुआ। बचपन से आप के संस्कार भक्ति-वृत्त के उद्भावक, पोषक तथा वर्द्धक तो थे ही; अनुकूल अवसर देखकर वही वृत्त अब फैलने का प्रयत्न करने लगा। आपकी इच्छा योगाभ्यास करने की हुई। नर्मदा नदी के तट पर कुटिया बनाकर उस समय एक योगी रहते थे। उनका नाम कमल-



मेवाड़ी भाषा के आदि कवि और प्रधान उन्नायक महाराज श्री चतुरसिंह जी

सन् १८८० ई० की ११ वीं फ़रवरी (वि० सं० १९३३ माघ कृष्ण १४) को हुआ था। आप करजाली महाराज सूरतसिंह जी के चतुर्थ पुत्र थे। प्रत्येक मेवाड़ वासी को मालूम है कि सूरतसिंह जी अत्यन्त ही निस्पृह, धर्मिष्ठ और उदासीन वृत्तियों के पुरुष थे। संसार की विषय वासनाओं से उन्हें जन्म ही से अरुचि थी। कहने को वे संसार में देह धारण किये हुये थे, परंतु उनका ध्यान अधिकतर भगवान के भजन में ही लगा रहता था; वे दूसरे ही संसार में विचरण किया करते थे। महाराणा सज्जनसिंह जी के बाद जब मेवाड़ की गद्दी पर बैठने का प्रश्न उठा, उस समय दूसरी व्यक्तियों के साथ आप का भी नाम था और वास्तव में गद्दी के अधिकारी भी आप ही थे। परंतु धर्म और ईश्वर भक्ति की तुलना में राज्य सम्मान न टिक सका; इसी लिये राज्य भार अपने कनिष्ठ भ्राता फ़तहसिंह जी को दिलवा सूरतसिंह जी ने अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया।

पिता की धार्मिक रुचि और ईश्वर भक्ति का रंग बालक चतुर पर ऐसा गहरा चढ़ा कि फिर न छूटा; उसकी छाप देहावसान के समय तक महाराज साहिब के चरित्र पर रही। उन्तीस वर्ष की आयु में आपका विवाह हुआ। परंतु, इस से आपके स्वाध्याय में किसी प्रकार की रुकावट और शिथिलता न पड़ी। सांख्य, वेदान्त, न्याय और ईश्वर- भक्ति सम्बन्धी साहित्य का मनन और मथन आप फिर भी करते ही रहे। कविता करने का थोड़ा बहुत अभ्यास भी आपको होगया था। कठिन विषय को पढ़ते २ जब कभी आप ऊब जाते तब कविता कर अपना मन बहला लेते थे। उस समय काव्य की विभिन्न विशे-

ताओं का समावेश आपकी रचनाओं में नहीं होता था। कविता अपने वास्तविक और स्वाभाविक रूप में ही आपके हृदय से निकलती थी। फिर भी काव्य-कौशल की झलक उस में रहती ही थी। आपकी जन्म-सिद्ध काव्य-प्रतिभा का परिचय उस समय भी थोड़ा बहुत मिल ही जाता था। आयु के साथ २ मानसिक और कवित्व शक्ति का भी विकाश हुआ, और महाराज साहिब सुधार-संबन्धी, चरित्र संबन्धी अच्छी कविताएँ लिखने लगे।

सन् १९०७ में महाराज साहिब की धर्म पत्नी का देहान्त हो-गया। फलतः उस समय से आपकी आन्तरिक वृत्तियों का झुकाव ईश्वर की ओर अधिकाधिक हुआ। बचपन से आप के संस्कार भक्ति-वृक्ष के उद्भावक, पोषक तथा वर्द्धक तो थे ही; अनुकूल अवसर देखकर वही वृक्ष अब फैलने का प्रयत्न करने लगा। आपकी इच्छा योगाभ्यास करने की हुई। नर्मदा नदी के तट पर कुटिया बनाकर उस समय एक योगो रहते थे। उनका नाम कमल-



मेवाड़ी भाषा के आदि कवि और प्रधान उन्नायक महाराज श्री चतुरसिंह जी

भारती था। महाराज साहिब वहीं पहुँचे और अपनी इच्छा प्रकट की। उक्त महात्मा बड़े ही नम्र, मधुर-भाषी और योग में पहुँचे हुये व्यक्ति थे। स्पष्ट वादिता की मात्रा भी उन में काफ़ी थी। महाराज साहिब की इच्छा योग सीखने की हुई सुन उन्हों ने कहा,-"आप को यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी ? मेवाड़ में बाठरड़ा के रावजी दलेलसिंह जी के भाई गुमानसिंह जो बहुत अभ्यस्त योगी हैं। तुम ने उन्हीं को अपना गुरु क्यों नहीं बनाया ?" महाराज साहिब लौटकर बाठरड़ा गये और सब वर्णन गुमानसिंह जी से कह सुनाया। महाराज साहिब की उत्कट लालसा देख गुमानसिंह जी उन्हें निराश न कर सके, और कुछ दिन अपने पास रख कर उन्हें राज राजेश्वर योग का उपदेश दिया।

वहां से आने के बाद आप कुछ दिन घर पर ही रहे। फिर शहर बाहर सूखेर नामक गांव के पास एक पहाड़ी पर झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। यहाँ रहने से आपको बहुत कुछ शान्ति मिली और घर के प्रतिबन्धों से दूर रहने के कारण स्वाध्याय और योगाभ्यास के लिये भी यथेष्ट अवसर मिला। यहाँ पर आप प्रकृति के स्वच्छन्द वायु मंडल में कई वर्ष रहे। प्राकृतिक अवस्था के दीर्घ कालीन मनन ने आपके स्वभाव को भी एक प्रकार से प्रकृतिमय बना रक्खा था। आपका हृदय उदार और सरल था। आडम्बर, पाखण्ड और क्रोध तो आपके पास से होकर भी न निकले थे। लोगों के साथ अत्यन्त नम्र और निष्कपट हृदय से मिलते थे। बातचीत करते समय आप ऐसी मधुर और स्निग्ध भाषा का प्रयोग करते थे, जो रोचक, प्रभावशाली और सरल होने के साथ २ भावों से लदी

हुई होती थी। कठिन से कठिन विषय को सरल करके श्रोताओं को समझादेना आप ही का काम था। कैसा भी कठिन विषय क्यों न हो, आप की प्रतिभा की खराद पर चढ़ कर वह नया ही रूप धारण कर लेता था, और उसकी दुरूहता हवा हो जाती थी।

यदि महाराज साहिब में केवल इतनी ही बातें होतीं तो उनके सम्बन्धियों और निकट वर्त्तियों के अतिरिक्त अन्य लोग कदाचित् ही उन से परिचित होते। परन्तु वे एक कवि थे, और एक ऊँचे कवि थे। अपनी लेखिनी और काव्य-प्रतिभा के बल से जो विचार आप लिपि-बद्ध कर गये हैं, वे मेवाड़ साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति और भारतीय साहित्य के गौरव की वस्तु है। कविता द्वारा उपदेश दिया जाना संभव है, राजनीति विषयक आलोचना हो सकती है, सामाजिक सुधार हो सकता है तथा दार्शनिक तत्वों का प्रकाशन हो सकता है। परन्तु जब महाराज चतुरसिंह जी इन्हीं बातों पर अपनी काव्य शैली का विशेष रंग चढ़ाते हुए उनको हमारे सामने रखते हैं, तब उनकी शुष्कता स्वतः जाती रहती है और उन में वह आकर्षण पैदा हो जाता है कि बस पढ़ते ही व सुनते ही बनता है। पढ़ कर मानव-हृदय यकायक हर्ष से नाच उठता है।

महाराज साहिब ने कबीर, नानक, मीरा, दादू और दूसरे कई एक भक्त कवियों के ग्रन्थों का बहुत अधिक अध्ययन किया था, इसलिये आपके शब्दों में वही चोट, आपकी भाषा में वही सरलता, भावों में वही गंभीरता विद्यमान है, जो उपर्युक्त कवियों में मिलती है। वैसे तो आप ने साहित्य प्रसिद्ध सभी छन्दों में अपनी रचनाएँ की हैं,

परन्तु जो रस आप के पद्यों में है, वह वास्तव में अकथनीय है–सराहनीय है। चतुरसिंह जी ने कुल मिला कर छोटे बड़े १७ ग्रन्थों की रचना की थी। इन में मेवाड़ी बोली में लिखी हुई गीता पर 'गंगा-जली' टीका सब से उत्तम और अनूठी पुस्तक है। वैसे तो सब ग्रन्थ अपने अपने ढंग के निराले हैं, परन्तु महाराज साहिब की गंभीरता और प्रतिभा की छाप इसी पर विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। फुटकर कविताओं में आप ने मुख्यतः समाज सुधार, शिक्षा प्रचार, भक्ति, वैराग्य, संसार की नश्वरता आदि विषयों पर क़लम चलाई है, और सब पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेदान्त के तत्वों का पुट तो प्रायः सब रचनाओं पर लगा हुआ है, फिर भी याद रखने की बात है कि महाराज साहिब का जन्म वीरभूमि मेवाड़ के एक वीर कुल में हुआ था, इसलिये कोशिश करने पर भी आप वीर रस प्रधान कविताओं को नहीं बचा सके हैं। नीति, वैराग्य और उपदेश संबंधी कविताओं को लिखते लिखते अनजान में कहिये अथवा अपने पूर्व संस्कारों के कारण कुछ ऐसी रचनाएँ भी करगये हैं, जिन के पढ़ने से हृदय में जोश, उत्साह आदि का संचार होता है। यह बात दूसरी है कि वीर रस अपने वास्तविक रूप में न आकर किसी दूसरे के वस्त्र पहन कर सामने आया हो........जैसे :—

बेनां आपां ओछी नी हां,

आछी मतरे कणी कियो के नीच जात नारी हां।
नारी हां तो कई व्हियो में नारां री नारी हां ॥१॥
शुख में शदा पछाड़ी री हां दुख में आगे व्ही हां।
माथो काट हाथ शूं मेल्यो पीतम पेली गी हां ॥२॥

हाथां पेट फाड़ पाप्यां शूं म्हें ललकार लड़ी हां।
हंसती धशी धधकती में म्हें अब पण वीरी वी हां ॥३॥
शुवरण पुरी शीश दश ऊपर म्हें थूकणवाली हां।
सत्यवान रो प्राण वंचायो जम शूं पण जीती हां ॥४॥
सिद्ध राज रो शाप न लागो कियो कई बुगली हां।
फोड़यो खोड़यो पति उंचाय ने वेश्या रे लेगी हां ॥५॥
शूरां रे जनमी हां आपां शूरां रे परणी हां।
शूरां री जननी हाँ आपां पोते ही शूरी हां ॥६॥
शगलो जगत शुधारण कारण म्हें जग में जनमी हां।
चातुर देवी कहै शक्ति हां आपां आपां शही·शती हां ॥७॥

महाराज साहिब संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे, और प्राचीनता के प्रेमी होने के कारण आधुनिक शिक्षा, सभ्यता और शिष्टाचार के विरुद्ध थे। आप प्रायः कहा करते थे कि आधुनिक पाठशालाओं में शिक्षा नहीं मिलती, बल्कि बालकों के गले घोंटे जाते हैं; वे दुर्बल, अधार्मिक और नास्तिक बनाये जाते हैं। 'चतुर चिन्तामणि' में आप ने इस ओर संकेत भी किया है।

सन् १९२९ के जून महीने में आप को सोज़िश की तकलीफ़ हुई और क़रीब बीस दिन बीमार रहने के बाद पहली जुलाई को आप के जीवन का अंतिम अभिनय हो गया। महाराज श्री चतुरसिंह जी जैसे अद्वितीय अनन्य भक्त, पारंगत विद्वान और पहुँचे हुए योगी कवि की मृत्यु से जो हानि मेवाड़ की हुई है, उसकी पूर्ति की आशा निकट भविष्य में करना आशा के विरुद्ध आशा करना है।

उन्तीसवां अध्याय

महाराणा भूपालसिंह जी

महाराणा फ़तहसिंह जी के स्वर्गवास के अनन्तर सन् १९३० ई० में आर्य-कुल-कमल-दिवाकर, श्रीमान् श्री १०८ श्री महाराजाधिराज महाराणा जी श्री सर भूपालसिंह जी बहादुर जी. सी. एस. आई., के. सी. एस. आई ने इस वीर प्रसविनी, वीर भूमि मेवाड़ के राज्य सिंहासन को सुशोभित किया। महाराणा साहिब को अपने पिता के जीवन ही काल में (सन् १९२१ ई० में) सरकार हिन्द की स्वीकृति से युवराजोचित कुछ अधिकार प्राप्त हो चुके थे, और मेवाड़ में नवीन सुधार और परिवर्तन तभी से आप के द्वारा होने लगे थे। फिर भी मेवाड़ में नवयुग का प्रारम्भ और प्रादुर्भाव आपकी गद्दी नशीनी के समय से ही हुआ समझना चाहिये। क्योंकि सुधारों की नई योजनाएँ जो पहले आपके मस्तिष्क में थीं, अथवा जिनका बीजारोपण हो भी चुका था, वे भी उगने, बढ़ने तथा खिलकर फल-फूल बाद में देने लगी थीं।

अस्तु, शासन-सूत्र हाथ में लेते ही महाराणा साहिब ने सब से पहिले कृषि-सुधार और शिक्षा-प्रचार की ओर दृष्टिपात किया। कृषकों की दशा सुधारने के लिये आपने बन्दोबस्त का कार्य शुरू किया, जो अभी तक ठीक रूप से हो रहा है। फिर

उनके लिये कृषि-सुधार नामक फ़ंड स्थापित किया, जहाँ से बहुत ही कम सूद पर उन्हें रुपया दिया जाता है। इस से किसान निर्दयी महाजनों के फंदों से बच गये हैं, और आवश्यकतानुसार फ़ंड में से रुपया लेकर खेती की उन्नति में लगाने लगे हैं। मेवाड़ के किसान निर्धन होने के साथ ही अशिक्षित भी हैं। वे अपनी खेती में अत्यन्त ही प्राचीन, अवैज्ञानिक और ख़र्चीली प्रक्रियाओं को काम में लाते हैं। उनके पास न तो आधुनिक ढंग के औज़ार ही हैं, और न शिक्षा के अभाव के कारण वे रीतियाँ ही उन्हें मालूम हैं, जिनकी सहायता से पाश्चात्य देशों के कृषक यहाँ की अपेक्षा कई गुनी उपज पैदा कर सुखी और श्री सम्पन्न हो रहे हैं। अज्ञानांधकार में पड़े हुए अपने किसानों की हीनावस्था महाराणा साहिब से न देखी गई। इसलिये कृषि-विभाग के साथ साथ कृषि स्कूल भी खोला, जहां विद्यार्थियों को कृषि सम्बन्धी, व्यवहारिक और सैद्धान्तिक शिक्षा देने का सुप्रबन्ध है। उक्त स्कूल बड़ी सफलता से कार्य कर रहा है, और वह दिन भी अधिक दूर नहीं है जब इतने विद्यार्थी यहाँ से निकलेंगे कि मेवाड़ के कोने कोने में अपने ज्ञान का प्रचार कर, किसानों की दशा को सुधारने में समर्थ होंगे।

दश ही वर्ष पहिले मेवाड़ में छोटे बड़े कुल मिला कर पचास स्कूल थे, जो यहां की जन संख्या देखते हुए बहुत कम थे। महाराणा साहिब ने स्कूलों के बढ़ाने की आज्ञा दी, और एक इण्टरमीडियेट कालेज स्थापित किया, जिस से आज मेवाड़ में सौ के क़रीब शिक्षा संबंधी अच्छी संस्थाएँ हो गई हैं। इन में तीन मिडिल स्कूल, दो एक गर्ल्स स्कूल और शेष प्राइमरी तथा लोअर प्राइमरी स्कूल हैं। मिडिल स्कूलों में सब से बड़ा,

प्राचीन और उपयोगी महाराणा मिडिल स्कूल है। इस में अधिकांश उदयपुर वासियों के लड़के पढ़ते हैं और किसी प्रकार का जाति पांति का भेद-भाव यहां नहीं रक्खा जाता। मेवाड़ से निरक्षरता को दूर करने में इस स्कूल ने बड़ा काम किया है, और आशा है कि अतीत की तरह अपने भविष्य को भी वह उज्ज्वल बनाये रक्खेगा।

मिडिल स्कूल का विकसित रूप महाराणा कालेज है। इस में अंग्रेज़ी, हिन्दी, गणित, विज्ञान, संस्कृत, इतिहास प्रभृति विषयों के पढ़ाने का उत्तम प्रबन्ध है। और यही कारण है कि छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उदाहरण स्वरूप, १९२२ में यहां ५० छात्र थे, १९२६ में १७८, १९३० में २८२, और १९३३ में ३००। छात्रों की संख्या में वृद्धि होना यही बतलाता है कि मेवाड़ में एक कालेज की आवश्यकता थी, और इसे जन्म देकर महाराणा साहिब ने यहां की बड़ी भारी कमी की पूर्ति की है। राजपूताने के अन्य कालेजों की तरह महाराणा कालेज का सम्बन्ध भी राजपूताना इण्टरमीडियेट बोर्ड से है। विज्ञान विषय को लेकर परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी के लिये कॉलेज में अच्छी प्रयोग शाला है। कॉलेज की अपनी निजी लायब्रेरी है, जिस में प्रायः सभी विषयों की पुस्तकों का अच्छा और उपयोगी संग्रह है। विद्यार्थियों की दक्षता को बढ़ाने तथा उन की जीविका के संकुचित क्षेत्र को प्रशस्त करने के लिये कॉलेज में आयल-पेण्टिङ्ग, वाच रिपेरिङ्ग और टाइप राइटिंग के क्लास भी हाल ही में खोले गये हैं। इन से विद्यार्थियों का बड़ा उपकार हुआ है, और विश्वास है कि हस्त-कला कौशल संबन्धी इस तरह की और शाखाएँ भी यहाँ जब खुल

जायँगा, तब उनका जीवन आधुनिक वातावरण के अधिक उपयुक्त और अनुकूल हो जायगा।

महाराणा कॉलेज के अतिरिक्त एक बड़ा स्कूल, 'भूपाल नोबल्स हाई स्कूल' और है, जहां जागीरदारों तथा राजपूतों के लड़के पढ़ते हैं और जिसका संस्थापन भी महाराणा साहिब ही ने किया है। इस स्कूल में दशवें क्लास तक पढ़ाई होती है, और धार्मिक एवं सैनिक शिक्षा पर पूरा २ ज़ोर दिया जाता है। प्रारंभ में महाराणा साहिब ने इस स्कूल के स्थायी फ़ण्ड में एक लाख रुपया प्रदान किया और तत्पश्चात्, अपने स्वर्गीय पिता महाराणा फ़तहसिंह जी की स्मृति में, फ़तह स्मारक छात्रालय स्थापित किया, जहां ग़रीब और नाबालिग़ क्षत्रिय बालकों के भोजन, वस्त्र आदि का अच्छा प्रबन्ध है। भूपाल नोबल्स स्कूल में अधिक संख्या ऐसे बालकों की है, जो पढ़ने ही के लिये उदयपुर में आते हैं। इसलिये स्कूल से लगा हुआ एक सुव्यवस्थित छात्रावास भी है। छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं है। उनके भोजन के लिये सुनियन्त्रित मेस हैं, दूध के लिये डेरी हैं, दवा के लिये डिस्पेन्सरी हैं, और व्यायाम के लिये प्ले-ग्राउण्डज़ हैं। भूपाल नोबल्स स्कूल, स्कूल नहीं, एक छोटा सा नगर है। यहां के विद्यार्थियों के पारस्परिक सहयोग, स्नेह और सौहार्द को देखकर रवीन्द्रनाथ की विश्व भारती का स्मरण होता है। भूपाल नोबल्स स्कूल को स्थापित हुए आज लगभग बारह वर्ष हो गये हैं। इसलिये अपना आदर्श स्थापित कर इस ने यदि राजपूताने की शिक्षा संबन्धी संस्थाओं में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है, तो इस में आश्चर्य ही क्या है। क्योंकि सन् १९२३

ई० के नवम्बर महीने में ही, जब इसे स्थापित हुए पूरा एक वर्ष भी न हुआ था, इसके संचालक और कार्य कर्ताओं की लगन देखकर लार्ड रीडिंग ने इसके भविष्य को उज्ज्वल और आशामय बतलाया था। रीडिंग महोदय को आशा थी कि स्कूल उन्नति करेगा, परन्तु काम आशातीत हुआ है। यदि आज उन्हें फिर स्कूल देखने का अवसर मिलता तो शायद वे भी सोचने लगते कि कैसे एक छोटे से अंकुर ने बढ़ कर इतना विशाल और उन्नत रूप धारण कर लिया। स्कूल की उन्नति का श्रेय महाराणा साहिब को है, और यदि आपकी कृपा इसी प्रकार बनी रही, तो वह और भी कुछ काम कर दिखावेगा, जिस से अपढ़, अनुन्नत और रूढ़ि गत कुरीतियों से जकड़ी हुई राजपूत जाति भी आधुनिक समाज में अपना मस्तक गौरव के साथ ऊँचा उठा सकेगी।

धर्म संबन्धी शिक्षा के लिये महाराणा साहिब ने एक संस्कृत कालेज की स्थापना की, जहाँ धर्म और कर्म काण्ड की शिक्षा के साथ २ हिन्दू कालेज बनारस की संस्कृत प्रथमा, मध्यमा और शास्त्री की परीक्षाएँ देने वाले विद्यार्थियों के पढ़ाने का भी प्रबन्ध है। यहाँ भी एक छात्रालय है, जो 'फ़तह भूपाल 'ब्रह्म छात्रालय' के नाम से विख्यात है। इस में ५० के क़रीब ऐसे विद्यार्थी हैं, जिनको भोजन, वस्त्र, पुस्तकें आदि आवश्यक वस्तुएँ सरकार की ओर से मिलती हैं। संस्कृत कालेज में अब आयुर्वेद के क्लास भी खुल गये हैं। आयुर्वेद की परीक्षाओं का संबंध पूना वैद्य विद्यापीठ से हुआ है।

ज़िलों के स्कूलों में भी अब वृद्धि हुई है, और प्राइमरी स्कूलों में कृषि का पढ़ना अनिवार्य होगया है। भारत के कई

स्थानों में देखा जाता है कि जो किसान अपने बालकों को पढ़ने के लिये भेजते हैं, उन के लड़के थोड़ा बहुत पढ़ तो अवश्य जाते हैं, परन्तु वे खेती के काम में कोरे रह जाते हैं। पढ़ाई में लग जाने से वे खेती से अलग हो जाते हैं। फल यह होता है कि जब वे अपने जीवन में प्रवेश करते हैं, तब न तो वे खेती के काम के रहते हैं और न किसी दूसरे काम के। मेवाड़ में इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है। पढ़ाई का क्रम इस ढङ्ग से रक्खा गया है कि विद्यार्थी दिन भर तो अपने खेत में काम करते हैं और संध्या को या सुबह, जब भी फुरसत मिलती है, आकर स्कूल में पढ़ जाते हैं। स्कूल प्रातःकाल में तो खुलता ही है, परंतु संध्या को भी तीन घण्टे के लिये खुला रहता है। इस से यह लाभ होता है कि बालकों की साक्षरता के नाम पर, जीविका के एकमात्र साधन खेती पर, कुठाराघात नहीं होता है। घर के काम धन्धों और खेती में लगे रह कर वे शिक्षा भी अनायास प्राप्त कर लेते हैं। शिक्षा की इस पद्धति को 'शिफ़्ट सिस्टम' कहते हैं। मेवाड़ के लिये यह नई वस्तु है, नया अनुभव है और लिखते हर्ष होता है कि इस से विद्यार्थियों को बड़ा लाभ पहुँचा है।

सब से बढ़ कर बात, जो मेवाड़ के स्कूलों के सम्बन्ध में देखी जाती है, वह यह है कि विद्यार्थियों से फ़ीस नहीं ली जाती। इतना ही नहीं, निर्धन और परिश्रमी विद्यार्थियों को उलटी छात्र वृत्तियां दी जाती हैं। इसके अलावा उन विद्यार्थियों की सहायता के लिये, जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त विश्व-विद्यालयों में आते हैं, एक फ़ण्ड नियत है, जिस से प्रति वर्ष

कई हज़ार रुपया छात्र वृत्ति, ग़रीब वृत्ति और विद्यार्थि-वृत्ति के रूप में दिया जाता है।

मेवाड़ में पहले मादक वस्तुओं के बोने, बेचने और बनाने की सर्व साधारण को आज्ञा थी। इन वस्तुओं के प्रचार में राज्य की ओर से बाधाएं थीं अवश्य, परन्तु वे बहुत कम थीं। अतः इनके प्रचार को कम करने के लिये महाराणा साहिब ने मादक-प्रचार-सुधारक संस्था स्थापित की और व्यापारियों को बिना लाइसेन्स के भांग, चरस, शराब, अफ़ीम आदि मादक पदार्थों के बेचने की मुमानियत करदी, जिस से इन वस्तुओं की बिक्री पर बहुत कुछ असर पड़ा भी है, और आगे भी पड़ने की आशा है। इतना होजाने पर आप ने रियासत की आय-वृद्धि और प्रजा की सुविधा के लिये माहोली से मारवाड़ जंकशन तक रेल ले जाने का विशाल आयोजन किया। यह कार्य बहुत कुछ हो भी चुका है। साथ ही उदयपुर को राज्य के अन्य व्यापारिक केन्द्रों तथा धार्मिक स्थानों से मिलाने के लिये आप ने मोटर वालों को ठेके दिये और स्थान स्थान पर सड़कें बनवाईं। इस से व्यापारियों और यात्रियों का बड़ा उपकार हुआ है।

शासन पद्धति पर भी महाराणा साहिब के नूतन सुधारों की छाप विद्यमान है। महद्राज सभा में पहले कार्य अत्यंत ही धीमी गति से होता था। ब्रिटिश इण्डिया के न्यायालयों की तरह कार्य को उत्तम ढंग से सम्पन्न करने के लिये महाराणा साहिब ने उक्त सभा में अनुभवी सदस्यों की संख्या बढ़ाई। फलतः यहाँ के कार्य में अब वेग, दक्षता और तत्परता की मात्रा बढ़गई है और मुक़द्दमे लड़ने वालों के बहुत से अनावश्यक झंझटों का निराकरण हो गया है। भीलवाड़े और उदयपुर में 'सेशंस कोर्टस्'

स्थापित कर महाराणा साहिब ने बड़ी चतुराई और नीति पटुता का परिचय दिया है। विचाराधीन क़ैदियों से पहले खुराक ली जाती थी। उसे और बेगार की प्रथा को भी रोक दिया गया है। वकीलों और थानेदारों के लिये परीक्षाएँ नियत हुई हैं। सेना, पुलिस और शिक्षा विभाग पर अनुभवी व्यक्तियों को रखकर उन्हें आधुनिक ढाँचे में ढालने का प्रयत्न भी पहली बार महाराणा साहिब के हाथों से ही हुआ है। इसका श्रेय भी आप ही को है।

श्री जी हुज़ूर का जन्म सन् १८८४ ई० ता० २२ फ़रवरी को हुआ था। महाराणा साहिब के पिता कट्टर सनातन धर्मी और प्राचीन विचारों के व्यक्ति थे। इसलिये बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर आपको प्राप्त न हो सका। लेकिन आपने महल ही में हिन्दी, अंग्रेज़ी और संस्कृत की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। उक्त तीन भाषाओं पर आप का अच्छा अधिकार है, और कई ग्रन्थों का अध्ययन और मनन भी आप कर चुके हैं। विद्या-प्रेमी होने के कारण आप विद्वानों का बड़ा आदर करते हैं, और समय समय पर हिंदी, संस्कृत, तथा अंग्रेज़ी के कवियों और लेखकों को पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहन देते रहते हैं। आपके विचार अत्यन्त ही उदार और उन्नतिशील हैं। शासन कर्ता की हैसियत से आप बड़े ही न्यायी और पक्षपात शून्य नरेश हैं। आप अत्यंत ही सरल हृदय, हँसमुख और मधुर भाषी हैं। भारतवर्ष में ऐसे राजाओं की संख्या कम नहीं है, जो अपनी प्रजा के धन को अपने हितसाधन और भोग विलास के लिये अंधे होकर दोनों हाथों से उलीचते हैं। वे लाखों रुपये विदेश में ख़र्च करते हैं, और उनकी प्रजा

को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता है। इस दृष्टि से भी देखा जाय तो महाराणा साहिब का जीवन आदर्श और अनुकरणीय है। कैसा भी महत्वपूर्ण और नाज़ुक विषय क्यों न हो, महाराणा साहिब एक सच्चे और धर्म परायण व्यक्ति की तरह विशाल हृदय से उस पर अपना फ़ैसला देते हैं। आपकी सहिष्णुता भी सराहनीय है। एक कट्टर सनातन धर्मी होते हुए भी आपको किसी दूसरे धर्म से द्वेष नहीं है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सब पर आपकी समान दृष्टि है, सब के हित का आपको ध्यान है। मेवाड़ में जहाँ हिन्दू मन्दिरों की प्रचुरता है, वहाँ मुसलमान, ईसाई, आर्यसमाज, थीओसाँफ़ी आदि धर्म और समाज के सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार की भी पूरी पूरी सुविधा है। यह एक नई बात है, और महाराणा साहिब के चरित्र की वह विशेषता है, जिसके कारण अन्य देशी नरेशों से आपका आसन बहुत ऊँचा और अधिक सम्मानास्पद होगया है।

मेवाड़ के प्रति की हुई महाराणा साहिब की सेवाएँ जितनी विशुद्ध, ठोस एवं सर्वतोमुखी हैं, उतनी ही स्वभाव-सिद्ध, आत्म प्रेरित और आदर्शपूर्ण भी हैं। आपके धार्मिक आचरण, राजकीय आदर्श और दृष्टि विचार आपको अपने ढंग के सर्वोच्च राजा होने का आसन प्रदान करते हैं। महाराणा साहिब उदार और सहृदय हैं, इस में कोई संदेह नहीं। आप प्रजावत्सल और गुण ग्राहक हैं, इस में कोई अत्युक्ति नहीं। आप न्याय प्रिय और धर्मिष्ठ हैं, इस में कोई विवाद नहीं। आप गंभीर होते हुए भी सरल हैं। सनातन धर्मी होते हुए भी उदार हैं। आपने मेवाड़ की स्वर्णाक्षरों में अंकित रहने के योग्य सेवाएँ की हैं।

इसलिये नहीं कि आपकी ख्याति हो, परन्तु आप तो सेवा को ही सेवा का पुरस्कार समझते हैं। मेवाड़ के गौरव-शाली इतिहास पर आप के नाम की अमिट छाप है, और रहेगी।

मेवाड़ के आबाल-वृद्ध-नारी-नर की ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह महाराणा साहिब को दीर्घायु करे, जिस से देश, धर्म और जाति का भला आप द्वारा इसी प्रकार होता रहे।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	२	दुष्प्राय्य	दुष्प्राप्य
२४	६	डोलिँ	डोलियाँ
२९	२०	यवन-सत्ता	यवन-रक्त
३२	२१	चीख रही थी	चीख रहा था
६६	१९	सन् १४०२	सन् १४४९
९७	५	के	से
१०३	१९	सकता था	सका था
१३२	५	हाथियों	हाथियाँ
१४४	४	शर्वनाश	सर्वनाश
१५९	६	पावंड	चावंड
१७४	१५	धन-जल	धन-जन
१९३	२	पुनीति	पुनीत
१९४	२	समय	सरूप
१९९	१९	देशों	प्रान्तों
२००	१९	स्वीयर्क	स्पीयर्क
२०१	१०	राणो	राणे
२०७	२२	करणमधुर	कर्णमधुर
२१२	१०	दूसरी	दूसरे
२१२	१९	उन्तीस	उन्नीस
२१६	९	पद्यों	पदों
२१७	२१	अद्वितीय	अद्वितीय कवि
२१७	६	फोड़यो	कोड़यो

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	२	दुष्प्राप्य	दुष्प्राप्य
२४	६	डोलिँ	डोलियाँ
२९	२०	यवन-सत्ता	यवन-रक्त
३३	२१	चीख रही थी	चीख रहा था
६६	१९	सन् १४०२	सन् १४४९
९७	५	के	से
१०३	१९	सकता था	सका था
१३२	५	हाथियों	हाथियाँ
१४४	४	शर्वनाश	सर्वनाश
१५९	६	पावंड	चावंड
१७४	१५	धन-जल	धन-जन
१९३	२	पुनीति	पुनीत
१९४	२	समय	सरूप
१९९	१९	देशों	प्रान्तों
२००	१९	स्वीयर्क	स्पीयर्क
२०१	१०	राणो	राणे
२०७	२२	करणसधुर	कर्णमधुर
२१२	१०	दूसरी	दूसरे
२१२	१९	उन्तीस	उन्नीस
२१६	९	पद्यों	पदों
२१७	२१	अद्वितीय	अद्वितीय कवि
२१७	६	फोड़्यो	कोड़्यो